स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

।। सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ।।

प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व

MAAH-103 (N)

प्रारंभिक सामाजिक और आर्थिक विचार एवं संस्थाएँ

Early Social and Economic Ideas and Institutions

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर- 1800-120-111-333

कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

।। सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्।।

सन्देश

प्रयागराज की पवित्र भूमि पर भारत रत्न राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन के नाम पर वर्ष 1999 में स्थापित उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज उ0प्र0 का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय है। यह विश्वविद्यालय उ0प्र0 जैसे विशाल जनसंख्या वाले राज्य में उच्च शिक्षा के प्रत्येक आकांक्षी तक गुणात्मक तथा रोजगारपरक उच्च शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराने में निरन्तर अग्रसर एवं प्रयत्नशील है। तत्कालीन देश की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में एक वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा व्यवस्था के रूप में भारत में मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा प्रणाली का पदार्पण हुआ था, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों तथा तकनीकी का सार्थक प्रयोग करते हुये मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा आज की सर्वोत्तम पूरक शिक्षा व्यवस्था के रूप में स्थापित हो चुकी है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सामने व्याप्त पाँच मुख्य चुनौतियों - (i) पहुँच (Access), (ii) समानता (Equity), (iii) गुणवत्ता (Quality), (iv) वहनीयता (Affordability) तथा (v) जवाबदेही (Accountability) को केन्द्र में रखकर घोषित देश की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP-2020) के प्रस्तावों को क्रियान्वित करने में उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय कृत संकल्पित है। उ0प्र0 की माननीय राज्यपाल एवं कुलाधिपति श्रीमती आनंदीबेन पटेल जी की सद्इच्छाओं के अनुरूप उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, शैक्षिक दायित्वों के साथ-साथ सामाजिक दायित्वों के निर्वहन में भी लगातार नवप्रयास कर रहा है। चाहे वह गाँवों को गोद लेकर उनके समग्र विकास का प्रयास हो या ग्रामीण महिलाओं, ट्रान्सजेन्डर व सजायाफ्ता कैदियों को शुल्क में छूट प्रदान कर उनमें आत्मविश्वास जागृति व उच्च शिक्षाा के प्रति अलख जगाने का प्रयास हो।

राष्ट्रीय विकास को बढ़ावाा देने के लिए शिक्षा एक मूलभूत जरूरत है। ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्रों में हो रहे तीव्र परिवर्तनों व वैश्विक स्तर पर रोजगार की परिस्थितियों में आ रहे परिवर्तनों के कारण भारतीय युवाओं को विभिन्न क्षेत्रों में गुणवत्तापूर्ण शैक्षिक अवसर उपलब्ध कराने पर ही भारत का भविष्य निर्भर करेगा। इसीलिए विभिन्न क्षेत्रों में सफलता हेतु शिक्षा को सर्वसुलभ, समावेशी तथा गुणवत्तापरक बनाना समसामयिक अपरिहार्य आवश्यकता है। कोविड-19 संक्रमण काल ने परम्परागत शिक्षा को और भी सीमित कर दिया है जबकि कोविड-19 के संक्रमण काल में तथा कोविड-19 के बाद भी मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा व्यवस्था ही एकमात्र पूरक एवं प्रभावी शिक्षा व्यवस्था के रूप में सार्थक सिद्ध हो रही है। ऐसी स्थिति में विश्वविद्यालय का दायित्व और भी बढ़ जाता है। इस दायित्व को एक चुनौती स्वीकार करते हुए विश्वविद्यालय ने प्राचीन तथा सनातन भारतीय ज्ञान, परम्परा तथा सांस्कृतिक दर्शन व मूल्यों की समृद्ध विरासत के आलोक में सभी के लिए समावेशी व समान गुणवत्तायुक्त शिक्षा सुनिश्चित करने तथा जीवन पर्यन्त शिक्षा के अवसरों को बढ़ावा देने के लिए अपने शैक्षिक कार्यक्रमों में प्रमाणपत्र, डिप्लोमा, परास्नातक डिप्लोमा, स्नातक, परास्नातक तथा शोध उपाधि के समसामयिक शैक्षिक कार्यक्रमों की संख्या तथा गुणात्मकता में वृद्धि की है।

शैक्षिक कार्यक्रमों में संख्यात्मक वृद्धि, गुणात्मक वृद्धि तथा रोजगारपरक बनाने के साथ-साथ प्रत्येक उच्च शिक्षा आकांक्षी तक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए अध्ययन केन्द्रों व क्षेत्रीय केन्द्रों के विस्तार के साथ-साथ प्रवेश, परीक्षा, प्रशासन तथा परामर्श (शिक्षण) में आनलाइन व्यवस्थाओं को सुनिश्चित किया गया है। विश्वविद्यालय कार्यप्रणाली में पारदर्शिता तथा जवाबदेही सुनिश्चियन की दृष्टि से तकनीकी के प्रयोग को बढ़ायाा गया है। 'चुनौती मूल्यांकन' की व्यवस्था सुनिश्चित करने का कार्य किया गया है, तो शिक्षार्थी सहायता सेवाओं में भी वृद्धि की जा रही है। शिक्षार्थियों की समस्याओं के त्वरित निस्तारण हेतु शिकाायत निवारण प्रकोष्ठ को सुदृढ़ करने के साथ-साथ पुरातन छात्र परिषद को गतिशील किया गया है।

शोध और नवाचार के क्षेत्र में अग्रसर होते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) नई दिल्ली तथा माननीय राज्यपाल एवं कुलाधिपति, उ0प्र0 की अनुमति से विश्वविद्यालय में शोध कार्यक्रम पुनः प्रारम्भ किया गया है तथा वर्ष पर्यन्त समसामयिक विषयों पर व्याख्यान, सेमिनार, बेबिनार तथा आनलाइन संगोष्ठियों आदि की श्रृंखला भी प्रारम्भ की गयी है। विभिन्न क्षेत्रों में रिसर्च प्रोजेक्ट सम्पादन पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। पुस्तकालय को अत्याधुनिक तथा सुदृढ़ बनाने हेतु कदम उठाये गये हैं। शिक्षकों व कर्मचारियों के स्वास्थ्य तथा कल्याण की योजनायें क्रियान्वित की गयी है। वर्तमान की विषम परिस्थितियों के दृष्टिगत विश्वविद्यालय ने मुख्यमंत्री तथा प्रधानमंत्री राहत कोष में अंशदान देने का भी प्रयास किया है।

भौतिक अधिसंरचना की दृष्टि से विश्वविद्यालय निजी स्रोतों से ही निरन्तर आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ा है। विश्वविद्यालय के शिक्षकों, परामर्शदाताओं, क्षेत्रीय समन्वयकगण, अध्ययन केन्द्र समन्वयकगण तथा कर्मचारियों की एकता व कर्मठता ही वह ऊर्जा पिण्ड है जिसके बल पर विश्वविद्यालय जीवंत व प्रकाशवान है। मुझे विश्वास है कि इसी ऊर्जा पिण्ड की सहायता से यह विश्वविद्यालय देश, प्रदेश तथा समाज को अपनी सेवाओं व योगदान प्रदान कर और अधिक समृद्ध, सुदृढ़ और गौरवशाली बनाने में अपनी भूमिका अदा कर सकेगा। मैं समस्त विश्वविद्यालय परिवार के प्रति आदर व आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रो. सीमा सिंह
कुलपति

MAAH-103N

प्रारंभिक सामाजिक और आर्थिक विचार एवं संस्थाएँ

Early Social and Economic Ideas and Institutions

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठयक्रम

इकाई 1	सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास के स्रोत	3–16
इकाई 2	वण, प्रकृति और उत्पत्ति, विभिन्न वर्गो के कर्तव्य, विशेषाधिकार और अक्षमताएं	17–36
इकाई 3	पुरूषार्थ–अर्थ, प्रकार एवं महत्व	37–48
इकाई 4	जाति व्यवस्था : प्रकृति, उत्पत्ति एवं विकास	49–62
इकाई 5	आश्रम व्यवस्था : प्रकृति, विकास, प्रकार, आश्रमों का मनो–नैतिक आधार, जीवन में आश्रमों का महत्व	63–76
इकाई 6	संस्कारः अवधारणा, प्रकार, जीवन में संस्कारों का महत्व	77–86
इकाई 7	विवाह, अवधारणा, उत्पत्ति, प्रकार एवं विकास	87–96
इकाई 8	परिवारः अवधारणा, उत्पत्ति, प्रकार एवं मुख्य विशेशताएं	97–104
इकाई 9	स्त्रियों की दशा	105–116
इकाई 10	दास प्रथा	117–128
इकाई 11	प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली एवं प्रमुख शिक्षण केन्द्र–तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, वल्लभी	129–140
इकाई 12	कर प्रणाली एवं राजस्व व्यवस्था	141–150
इकाई 13	वार्ता–परिभाषा एवं महत्व	151–162
इकाई 14	श्रेणी संगठन : कार्यप्रणाली एवं सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में भूमिका	163–178
इकाई 15	कृषि भूमि, सामन्तवाद एवं व्यापार–वाणिज्य	179–194

MAAH-103N
प्रारंभिक सामाजिक और आर्थिक विचार एवं संस्थाएँ
Early Social and Economic Ideas and Institutions

परामर्श समिति	
प्रो.सीमा सिंह,	कुलपति, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार	कुलसचिव, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
पाठयक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)	
प्रो.सन्तोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.जे.एन.पाल	पूर्व आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.हर्ष कुमार	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.राजकुमार गुप्ता	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, प्रो.राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या) विश्वविद्यलय,प्रयागराज
डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास,समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
लेखक	
डॉ.वन्दना वर्मा	शैक्षणिक परामर्शदाता, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा **(इकाई 1—5)**
डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा **(इकाई 6—12)**
डॉ.सुबास चन्द पाल	सहायक आचार्य (संविदा) प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा **(इकाई 13—15)**
सम्पादक	
डॉ. रमाकान्त सिंह,	सह आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
पाठयक्रम समन्वयक	
डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2023

ISBN : 978-81-19530-40-3 **December -2023 (मुद्रित)**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेष राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार सिंह उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज —2023

मुद्रकः— चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई–1 सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास के स्रोत

इकाई की रूपरेखा

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 ऐतिहासिक स्रोतों के प्रकार

1.2.1 पुरातात्विक स्रोत

1.2.2 उत्खनन से प्राप्त सामग्री

1.2.3 अभिलेख

1.2.4 मुद्राएँ

1.2.5 स्मारक

1.3 साहित्यिक स्रोत

1.3.1 वेद

1.3.2 ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्

1.3.3 वेदांग

1.4 महाकाव्य

1.5 पुराण

1.6 स्मृतियाँ एवं भाष्य

1.7 निबन्ध–साहित्य

1.8 अर्थशास्त्र

1.9 साहित्यिक रचनाएँ

1.10 ऐतिहासिक रचनाएँ

1.11 बौद्ध साहित्य

1.12 जैन साहित्य

1.13. विदेशी यात्रियों के विवरण

1.13..1 यूनानी–रोमन लेखक

1.13.2 चीनी–लेखक

1.3.3 अरबी यात्री

1.14 सारांश

1.15 बोध प्रश्न

1.16 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय परम्परा की कुछ अनुपम विशिष्टता है जो विश्व में अन्यत्र नहीं दिखती। भारतीय संस्कृति में वर्ण, पुरुषार्थ एवं आश्रम व्यवस्था की अवाधारणा जिसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है अर्तसम्बन्धित है। धर्मपूर्वक वर्ण द्वारा निर्धारित कर्म धर्म, अर्थ काम का निष्पादन करते हुए व्यक्ति जीवन के अंतिम आश्रम या पड़ाव मोक्ष प्राप्ति है। यही प्राचीन काल से चली आ रही हिन्दू सामाजिक संरचना है। यह कहा जाता है कि भारतीयों को इतिहास लिखने के प्रति विरक्ति थी, परन्तु यह बात पूरी तरह ठीक नहीं है। नेपाल, गुजरात, कश्मीर और अन्यान्य स्थानों के स्थानीय इतिवृत्त और बहुसंख्यक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, ये अलग बात है कि सामग्री मात्रा में काफी कम है। फिर भी प्राचीन काल से मध्यकाल तक समय–समय पर ऐसे अनेकानेक साहित्य का निर्माण हुआ, जिसने भारतीय सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक पहलुओं को उजागर किया है। ध्यातव्य है कि प्राचीन भारतीय परम्परा की अनुपम विशिष्टता मोक्ष की संकपना है जो विश्व में अन्यत्र नहीं दिखती। भारतीय संस्कृति में वर्ण, पुरुषार्थ एवं आश्रम व्यवस्था की अवाधारणा जिसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, अर्तसम्बन्धित है। धर्मपूर्वक वर्ण द्वारा निर्धारित कर्म धर्म, अर्थ काम का निष्पादन करते हुए व्यक्ति जीवन के अंतिम आश्रम या पड़ाव मोक्ष प्राप्ति का है। यही प्राचीन काल से चली आ रही हिन्दू सामाजिक संरचना है। धार्मिक एवं धर्मेत्तर ग्रंथों, पुराण कथाओं एवं विदेशी विवरणों के माध्यम से प्राचीन भारतीय समाज का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाएँ अभिव्यंजित की गईं। अभिलेख, मुद्राएँ, अवशेष, स्मारक आदि विविध पुरातात्विक सामग्रियों से भी भारतीय समाज के विविध पक्ष उद्घाटित होते हैं तथा इतिहास की प्रमाणिकता पुष्ट होती है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अर्न्तगत आप जान सकेंगे।

- प्राचीन सामाजिक एवं आर्थिक स्रोत के विषय में।
- प्राचीन इतिहास के निर्माण में पुरातत्व के भूमिका के विषय में।
- स्रोतों के विभिन्न प्रकारों एवं महत्व के विषय में।

1.2 ऐतिहासिक स्रोतों के प्रकार

यद्यपि यह कहा जाता है कि भारतीयों के इतिहास लिखने के प्रति विरक्ति थी, परन्तु यह बात पूरी तरह ठीक नहीं है। नेपाल, गुजरात, कश्मीर और अन्यान्य स्थानों के स्थानीय इतिवृत्त और बहुसंख्यक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, यद्यपि सामग्री मात्रा में काफी कम है। फिर भी प्राचीन काल से मध्यकाल तक समय–समय पर ऐसे अनेकानेक साहित्य का निर्माण हुआ, जिसने भारतीय सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक पहलुओं को उजागर किया। धार्मिक एवं धर्मेत्तर ग्रंथों, पुराण कथाओं एवं विदेशी विवरणों के माध्यम से प्राचीन भारतीय समाज धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाएँ अभिव्यंजित की गई। अभिलेख, मुद्राएँ, अवशेष, स्मारक आदि विविध पुरातात्त्विक सामग्रियों से भी भारतीय समाज के विविध पक्ष उद्‌घाटित होते हैं तथा इतिहास की प्रमाणिकता पुष्ट होती है।

1.2.1 पुरातात्विक स्रोत

प्राचीन भारत के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने के लिए पुरातात्विक सामग्री का विशेष महत्व है। इसके तीन प्रमुख कारण हैं–

1. भारतीय ग्रन्थों का रचनाकाल ठीक से ज्ञात नहीं है, इसीलिए किसी काल विशेष की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं होता।
2. साहित्यिक साधनों में लेखक का व्यक्तिगत दृष्टिकोण बहुधा सही चित्र प्रस्तुत करने में बाधक होता है।
3. ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने वाले लेखकों ने स्वेच्छा से कई प्राचीन प्रकरणों को छोड़ दिया एवं नए प्ररण जौड़ दिए।

पुरातात्विक सामग्रियों में इस प्रकार परिवर्तन करने से बहुत कम सम्भावना थी, अतः यह अधिक विश्वसनीय है।

पुरातत्व के अन्तर्गत उत्खनन (Excavation) से प्राप्त वस्तुओं एवं अन्वेषणों (exploration) से प्राप्त स्मारकों को संरक्षित किया जाता है। और वे साहित्यिक साक्ष्यों से प्राप्त सूचना के पूरक के रूप में कार्य करते हैं। फलतः एक प्रामाणिक इतिहास का निर्माण करने में सहायक सिद्ध होती हैं– इन्हें मुख्यतः हम चार भागों में बाँट सकते हैं–

1. उत्खनन (खुदाई) से प्राप्त सामग्री, 2. उत्कीर्ण लेख, 3. मुद्राएँ, 4. स्मारक (मूर्तियाँ, मंदिर) भवन रूव दुर्ग।

1.2.2 उत्खनन से प्राप्त सामग्री

ऐतिहासिक स्थलों की खुदाई से प्राप्त ईंट, औजार, हथियार, बर्तन, आभूषण,

अनाज के दाने प्राग्ऐतिहासिक एवं ऐतिहासिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं। सैंधव सभ्यता के नगरों से प्राप्त सामग्री आद्य ऐतिहासिक युग के समाज, धर्म और कला को उद्घाटित करती हैं। कौशाम्बी, सारनाथ, नालन्दा, राजगृह, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र आदि की खुदाइयों से प्राप्त वस्तुएँ ऐतिहासिक युगीन जीवन पर प्रकाश डालती है।

ऐतिहासिक स्थल की खुदाइयों से प्राप्त मृद्भांड अलग–अलग कालों से सम्बन्धित समाजार्थिक जीवन को उजागर करते हैं।

पुरातत्वविदों ने इन मृदभांडों को निम्नलिखित पाँच भागों में बाँटा है।

1. **काले और लाल मृद्भाण्ड (Black and Red Ware)** : गुजरात के लोथल एवं रंगपुट, मध्य भारत के माहेश्वर, नागदा, बहल और नवदाटोली तथा बिहार स्थित सोनपुर से प्राप्त ये भांड लौहयुग के आस–पास के लगते हैं। इनका समय 2000 ई0पू0 रहा होगा।

2. **गेरूए रंग का मृद्भांड (OCHRE Colored Ware)** : गंगा क्षेत्र कांठे में ये अधिक पाये गये है। हस्तिनापुर में चित्रित धूसर मृद्भाण्डों से निचले स्तर पर गेरूआ रंग के मृद्भाण्ड मिले हैं। बिजनौर, हरिद्वार (बहादराबाद), बदायूँ आदि स्थानों पर लगभग 1200ई0पू0 के ठीकरे मिले हैं।

3. **चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (Painted Grey Ware)** : ये कांस्य युग का लगता है। इनकी प्राप्ति–स्थल पर लोहा भी मिला है। ये चाक पर बनाकर, आग में पकाये जाते थे। अहिछत्र, आलमगीरपुर, अल्लाहपुर, अतिरंजीखेड़ा, हस्तिनापुर, खालोआ, मथुरा, रोपड़, सरदारगढ़, श्रावस्ती, नोह, कम्पिल एवं जखेड़ा में भी इसके साक्ष्य मिले हैं। पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान से कई प्यालियाँ एवं तश्तरियाँ मिली हैं जो लगभग 600ई0पू0 की मानी जाती है। इन पर काले रंग के स्वास्तिक एवं सर्पिल जैसी ज्यामितिय आकृतियाँ निर्मित हैं। लोहे की वस्तुओं में भाले, कील–कांटे, कुल्हाड़ियाँ कुदौल दरातियाँ चीमटा व पिन मिले हैं।

4. **उत्तर काली पालिश वाले मद्भाण्ड (Northern black polished ware)** : उत्तर में पेशावर, तक्षशिला, दक्षिण में अमरावती, पूरब में वानगढ़ और शिशुपालगढ़ तथा पश्चिम में नासिक तक इन मृद्भाडों का प्रसार मिला है। ये लौह युग 600ई0पू0–200ई0पू0 से सम्बन्धित है। कुछ इतिहासकार इनका समय (800–400) ई0पू0 मानते हैं।

5. **दाँतेदार पहिये से चित्रित भांड (Rotated Ware)** : अधिकांशतः दक्षिण भारत के कई स्थलों से तथा कुछ पश्चिमी बंगाल से ये भाण्ड मिले ळैं जिनका काल 200ई0 माना जाता है। इनका रंग भूरा एवं काला है। इन पर दांतेदार

पहिए से एक ही केन्द्र वाले अनेकों वृत्ताकार आकृतियाँ बनाई गई हैं। उपरोक्त मृद्भाण्डों के आधार पर पुरातत्त्व–वेत्ताओं ने अनेकों ऐसी संस्कृतियों का चित्रण किया है, जिनका अपना कोई लिखित इतिहास नहीं है।

1.2.3 अभिलेख (Inscriptions)

गुफाओं, दीवारों, स्तम्भों, ताम्रपत्रों, प्रस्तरों के लेखों से इतिहास के बारे में प्रमाणिक जानकारी मिलती है। कई लेख तत्कालीन समाज–संस्कृति संबंधित जानकारी के स्रोत हैं। कुछ अन्य लेख राजप्रशासन, जनकल्याणकारी कार्य और राज–निर्देश, दान–धर्म, भवन मंदिर निर्माण, प्रशस्ति आदि को व्यक्त करते हैं। कुछ लेख नाटक और संगीतशास्त्र के विषय व्यक्त करते हैं। राजाओं के नाम, वंश, सामंत परिचय, विग्रह संधि, सामाजिक, आर्थिक कार्य इन लेखों में वर्णित है।

अशोक के अभिलेख, राजाज्ञा के रूप में प्राप्त हुए हैं। जहाँ भी ये स्तम्भ लगवाए गए थे वे सब व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मार्गों पर थे। इससे प्रतीत होता ळै कि अशोक के काल में व्यापार की सुविधाएँ प्राप्त थी। अशोक के एक अभिलेख से मौर्यकालीन कर–व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। अशोक ने गौतम बुद्ध के जन्म–स्थल लुम्बिनी में राजकीय–कर घटाकर उपज का आठवाँ हिस्सा कर दिया था। बहुत स्वाभाविक है कि पूर्व में यह कर और भी अधिक रहा होगा।

इसके अतिरिक्त खारवेल का हाथीगुम्भा–अभिलेख पहली शती ई0पू0 का प्राप्त हुआ है। इससे अनुसार खारवेल ने कलिंग में सिंचाई हेतु नहर की खुदवाई करायी थी। रुद्रदामा के जूनागढ़–अभिलेख जो कि 150 ई0पू0 का है, उसके अनुसार भी तत्कालीन सिंचाई की व्यवस्था की गई थी। इस अभिलेखानुसार रुद्रदामा ने जनता से 'बलि', 'भाग' एवं 'कर' ही वसूल किए हैं। उन्होंने प्रजा को 'कर', 'विष्टि' एवं 'प्रणय' नामक कर देने को विवश नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि उस काल से पूर्व रुद्रदामा के लगाए हुए तीन करों को प्रजा उचित मानती थी एवं अन्य करों को अनुचित।

समुद्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख से उसकी दिग्विजय की जानकारी के साथ–साथ तत्कालिक सामाजिक, धार्मिक और कलात्मक पक्ष उजागर होते हैं। स्कन्दगुप्त के भीतर–स्तंभ–लेख और जूनागढ़ अभिलेख भी महत्त्वपूर्ण हैं। गुप्ताकल से बारहवीं सदी तक अनेक लेख प्राप्त होते हैं। जो स्तम्भ लेखों, गुहालेखों शिलालेखों एवं ताम्रलेखों के रूप में हमें प्राप्त होते हैं।

1.2.4 मुद्राएँ

मुद्राओं से तत्कालीन शासन काल के साथ ही भाषा, लिपि, धर्म, समाज और आर्थिक दशा का भी ज्ञान प्राप्त होता है। आहत (पंचमार्क्ड) प्रकार के सिक्के प्राचीनतम हैं। इनके भंडारण मध्य प्रदेश के सागर जिले के एरण संस्थान पर तथा

आंध्र प्रदेश के गुंटूर के अमरावती नामक स्थान से मिले।

मौर्ययुग के बाद की मुद्राएँ समय–समय पर मिलती रहीं। यवन, पहलव, शक, कुषाण, सातवाहन, गुप्त, राजपूत आदि विभिन्न राजवंशों के सिक्के मिले हैं जो तत्कालीन समाज पर प्रकाश डालते हैं।

शातकर्णि का जलपोत अंकित मुद्रा तत्कालीन सामुद्रिक व्यापार को व्यक्त करता है। साथ ही समुद्रगुप्त का वीणा बजाते हुई मुद्रा उसकी संगीतप्रियता को दर्शाता है। गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्राएँ बहुतायत में मिलीं जिसके स्पष्ट होता है कि गुप्त काल आर्थिक रूप से काफी समृद्ध है। साथ ही इन मुद्राओं पर अंकित आकृतियाँ शासकों के नाम, तिथि तथा कलात्मक एवं धार्मिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है।

आर्थिक इतिहास का अध्ययन करने के लिए, सिक्कों का ज्ञान भी आवश्यक है। सबसे पहले प्राप्त सिक्के चाँदी के सिक्के थे, जो लगभग 500 ई0पू0 से 100 ई0पू0 तक पाए गए हैं। इन सिक्कों पर अनेकों आकृतियाँ बने हैं, 'आहत' (Punch-marked) कहे जाते हैं। इन सिक्कों के बहुतायत में पाए जाने के कारण ये अनुमान लगाया जाता है कि उत्तरी–भारत में वाणिज्य–व्यापार प्रारम्भ हो गया था। शासकों की आज्ञा से व्यापारी वर्ग एवं सुनार इन्हें चलाते एवं उपयोग करते थे।

मौर्योत्तर काल में यूनानी शक–कुषाण एवं सातवाहन शासकों ने अनेक सिक्के चलाए। सोने के सिक्के सबसे पहले कुषाण शासकों ने चलाए थे। सिक्कों को देखकर अनुमान लगाया जाता है कि सातवाहनों एवं कुषाणों के शासन काल में, भारत का वाणिज्य काल उत्कर्ष पर था। रोमन साम्राज्य काल के सोने के बहुत से सिक्के मिले हैं, जिससे विदेशी व्यापार होने का संकेत मिलता है।

गुप्तकालन शासकों में भी सोने के सिक्के चलाए जिससे लगता है कि उनके काल में भी व्यापार उत्कर्ष पर था। गुप्तोत्तर काल में सोने के सिक्कों का अभाव मिलता है। सातवीं शताब्दी के बाद सबसे अधिक संख्या 'गधैया' सिक्कों (पैसों) की है। ये अधिकतर उत्तर प्रदेश, राजस्थान और गुजरात में मिले हैं। इनका प्रचलन 11वीं शती से हुआ था। इससे अनुमान होता है कि 11वीं शती में व्यापार की बहुत कमी हो गई है।

1.2.5 स्मारक

स्मारकों के अन्तर्गत राजाप्रसाद, सार्वजनिक भवन, दुर्ग, चैत्य, स्तूप, संघाराम, बिहार आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्मों से संबंधित मूर्तियाँ, पशु–पक्षी, लतर–बेल, पुष्प, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि की भी प्रतिमाएँ भवनों, धार्मिक केन्द्रों पर बनाये जाते थे ये जनता के विश्वास, धर्म, पूजा–अर्चन, स्थापत्य

एवं मूर्तिकला पर प्रकाश डालते हैं।

1.3 साहित्यिक स्रोत

a) धार्मिक ग्रंथों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं– 1. ब्राह्मण साहित्य, 2. बौद्ध साहित्य, 3. जैन साहित्य।

1.3.1 वेद

वेद हिन्दू धर्म के प्राचीतम ग्रंथ हैं जिनसे तत्कालीन सभ्यता, समाजार्थिक अवस्था एवं धर्म उद्घाटित होता है। वेद चार हैं – ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद प्राचीतम ग्रंथ है। लगभग 1500ई0पू0 इसका काल माना जाता है। जिससे पता चलता है कि तत्कालीन आर्य सभ्य जीवन व्यतीत करते थे। वे दैवी शक्तियों को आदर करने के साथ–साथ लौकिक एवं मानवीय मूल्यों के प्रति भी सजग थे। यह लगभग आठ विभागों (अष्टक) में विभक्त है। प्रत्येक अष्टक आठ अध्यायों में विभक्त है। सम्पूर्ण ऋग्वेद दस मण्डलों में विभक्त है। ऋग्वेद में कुल सूक्तों की संख्या 1028 है। अन्य तीन वेद उत्तरवैदिक काल की कृतियाँ हैं और वे आर्योंके उत्तरवैदिक कालीन जीवन पर प्रकाश डालता हैं।

सामवेद की रचना उद्गाता ऋत्विक के लिए की गई है जिसका मान यज्ञ के समय होता था। सामवेद की ऋचाओं की संख्या 1549 है। यजुर्वेद की रचना में गद्य वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है, जो ऋषियों द्वारा अध्वर्यु यज्ञ के अवसर पर प्रयुक्त होते थे। यजुर्वेद यज्ञिक अनुष्ठान के विधि–विधान पर प्रकाश डालता है। यजुर्वेद के दो भेद हैं– 1. कृष्ण यजुर्वेद, 2. शुक्ल यजुर्वेद अथर्ववेद में मोहन–मारण, उच्चाटन–विघटन और विवाह, श्राद्ध आदि का अधिक उल्लेख है। साथ ही इसमें अंधविश्वास और तमस रूचियों का वर्णन हमें मिलता है। इसमें 20 कांड, 731 सूक्त हैं। 1200 ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गई हैं।

1.3.2 ब्राह्मण ग्रंथ : ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्

उत्तरवैदिक कालीन समाजार्थिक जीवन पर ब्राह्मण ग्रंथों के तीनों भेद ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् द्वारा भी प्रकाश पड़ता है। इन ग्रंथों में वेद मंत्रों का विस्तार से अर्थ, भाष्य, प्रयोग आख्यान तथा यज्ञ के अध्यात्म तत्व की व्याख्या की गई है।

ब्राह्मण ग्रंथों में ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, कोषितकि या सांख्यायन ब्राह्मण, ताड्य या पंचविंश ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और गोपथ ब्राह्मण अधिक विख्यात हैं। इनमें वेद से संबंधित यज्ञ, आख्यान, वर्ण–समाज, शकुन, अलौकिक घटनाओं, देवतत्व के रहस्य, ज्ञान और भक्ति का उल्लेख है। प्रारंभिक हिन्दू समाज आर्य जीवन का सुन्दर चित्रण हैं।

उपनिषद् : उपनिषद् में आध्यात्म और अलौकिक विद्या के गूढ़ रहस्यों का विस्तृत विवेचन है। इनका प्रधान विषय आत्मा–परमात्मा, ब्रह्म के स्वरूप और उनका पारस्परिक सम्बन्ध है। उपनिषदों की संख्या 179 से भी अधिक है। मुख्य उपनिषदों का रचनाकाल बुद्ध से पहले माना जाता है।

1.3.3 वेदांग

चूँकि वेदांगों की रचना वेदों के अर्थ समझने के लिए की गई थी। इसलिए इन्हें वेदांग कहते हैं। इनकी संख्या छह थी।

i. **शिक्षा** –यह वेदों में शुद्ध उच्चारण एवं पाठ हेतु है।

ii. **व्याकरण** : भाषा को वैज्ञानिक शैली प्रदान करने हेतु पाणिनीकृत अष्टाध्यायी सबसे पहले लिखा गया (600–300 ई0पू0) इसका भाष्य–पतंजलि का महाभाष्य (200 ई0पू0) कात्यायन–वर्तिका (300 ई0) वामन एण्ड जयादित्य–काशिका (600 ई0पू0) में लिखी गई।

iii. **छन्द** : वेद रचना छंद पर निर्भर करती है।

iv. **ज्योतिष** : तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की वैज्ञानिक गतिविधि ज्योतिष साहित्य से व्यक्त होती है। नारद संहिता आदि में 18 ज्योतिष विदों का उल्लेख है। गार्गी संहिता और बृहत् संहिता ज्योतिष के ऐसे ग्रंथ हैं जिससे तत्कालीन सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता हैं।

v. **निरूक्त** : वैदिक ग्रंथों के अर्थज्ञान तथा उसकी व्याख्या हेतु लिखी गई है।

   यास्क ने निरूक्त की रचना की।

vi. **कल्पसूत्र** : सामाजिक और धार्मिक विधि–विधानों तथा साहित्य नियम–निर्देशों का वर्णन है।

श्रौत सूत्र यज्ञ सम्बधी; गृह्यसूत्र, गाहेस्थ्यिक संस्कार, अनुष्ठान, आचार–विचार तथा धर्मसूत्र, धार्मिक नियमों, राजा–प्रजा के कर्तव्य और अधिकार, सामाजिक वर्ण प्रधान भेद, आश्रम आदि व्यवस्था का उल्लेख करता है। इस प्रकार वेदांग के छहों अंग अन्योन्याश्रित है।

1.4 महाकाव्य

रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों से तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। वाल्मीकि द्वारा रचित आदिकाव्य रामायण में आराध्य देव राम के चरित्र–चित्रण के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन का चित्रण मिलता है तथा राज–परिवार और जन–परिवार के पारस्परिक संबंध का भी विवरण मिलता है। संभवतः इसकी रचना छठीं सदी ई0पू0

में हुई थी। इसका वर्तमान स्वरूप प्रायः दूसरी सदी ई0पू0 का है। संभवतः पाँचवी सदी ई0पू0 में महाभारत की रचना व्यास ने की। तीसरी सदी ई0पू0 से पहली सदी ई0पू0 तक इसमें परिवर्धन और परिवर्तन होते रहे। इसके जय, भारत और महाभारत तीन संस्करण हुए। इसमें इतिहास, उपाख्यान, उपदेश, दर्शन आदि का संकलन है।

1.5 पुराण

भारत की प्राचीन समाजार्थिक दशा का उद्‌घाटन करने वाले महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोतों में महाकाव्य के बाद पुराणों को ही माना जाता है। जिनका रचनाकाल महाकाव्य काल से लेकर गुप्तकाल माना जाता है। डॉ0 वन्दना वर्मा की पुस्तक 'हिस्टोरियोग्राफी ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया : ट्रेंडस इन इण्डियन हिस्ट्रीकांफ्रेस में संदर्भित ख्यात आधुनिक इतिहासकार प्रोफेसर विजय नाथ के अनुसार गुप्तोत्तर काल में सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रामदान एवं भूमिदान भी बहुतायत संख्या में पुराणों की रचना का प्रमुख कारक है। दो संस्कृतियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया के फलस्वरूप पारंपरिक वैदिक धार्मिक ग्रंथों का सरलीकृत स्वरूप पुराणों के रूप में सामने आया। प्रमुख पुराणों की संख्या अट्‌ठारह है। ब्रह्मपुराण, पद्‌मपुराण, विष्णुपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त–पुराण, लिंगपुराण, वाराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामन–पुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरूड़–पुराण एवं ब्रह्माण्डपुराण। इनके अतिरिक्त उन्तीस उपपुराण भी है। इनमें वेदों, देवताओं एवं यज्ञों के सम्पादन विधि तथा तत्संबंधी दर्शन को सरल भाषा में दिया गया है। इनमें वर्णित विविध आख्यानों के माध्यम से धर्म के महत्त्व और सामाजिक व्यवस्थाओं की भी व्याख्या की गई है। पुराणों के पाँच विषय बताये गये हैं।

1. सर्ग (आदि सृष्टि), 2. प्रतिसर्ग (सृष्टि का विस्तार, लय एवं पुनः सृष्टि), 3. सृष्टि की वंशावली (देवताओं, ऋषियों का वंशक्रम), 4. मन्वन्तर (किस–किस मनु का समय कब–कब रहा और उस युग में कौन सी महत्वपूर्ण घटना घटी।, 5. वंशानुचरित (राजाओं के वंश का इतिहास)। यद्यपि राजनीतिक इतिहास का तारतम्य बहुत व्यवस्थित नहीं है। अतः पुराणों में वर्णित घटना एवं वंशानुक्रम अस्पष्ट है, फिर भी समाजार्थिक एवं धार्मिक–इतिहास की दृष्टि से पुराण बहुत महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

1.6 स्मृतियाँ और भाष्य

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदस्मृति, बृहस्पति स्मृति, कात्यायनस्मृति के साथ–साथ मनुस्मृति पर मेघातिथि गोविंदराज एवं कुल्लक भट्‌ट की टीकाएँ, याज्ञवल्क्य स्मृति पर विश्वरूप की, विज्ञानेश्वर एवं अपरार्क की टीकाएँ तत्कालीन जीवन के सभी पहलुओं का विशद विवेचन करती है। ये वर्ण, जाति, आश्रम, पुरुषार्थ, विवाह, परिवार आदि विविध संस्थाओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

निबंध साहित्य : भारत के अलग–अलग क्षेत्रों में रचित विभिन्न स्थानीय स्तर पर तत्कालीन सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इनमें से प्रमुख हैं–

काशी : नारायण भट्ट, कमलाकर भट्ट, मित्र मिश्र के निबन्ध प्रमुख हैं।

मिथिला : श्रीदत्त उपाध्याय, चण्डेश्वर, वाचस्पति मिश्र आचारादर्श, स्मृति रत्नाकर विवाद चिन्तामणि क्रमशः इनके ग्रंथ हैं।

बंगाल : जीमूतवाहन (दायभाग), शूलपाणि (स्मृति विवेक), रघुनन्दन (स्मृति तत्व), बल्लालसेन (आचार सागर, अद्भुत सागर, दानसागर, प्रतिष्ठासागर) मुख्य हैं।

दक्षिण भारत : देवण्ण भट् (स्मृति चन्द्रिका), हेमाद्रि (चतुर्वर्ग चिन्तामणि), माध्वाचार्य (पराशर माधव)– अर्थशास्त्र के इतिहास में प्रमुख है।

1.7 विष्णुगुप्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र

मौर्ययुगीन भारतीय सामाजिक और आर्थिक जीवन का प्रामाणिकइतिहास व्यक्त करने वाला अर्थशास्त्र एकमात्र विधिशास्त्र है। इसमें समाज के विविध पक्षों की कार्यप्रणाली, समस्याओं तथा उनके समाधान हेतु राज्यनिर्मित विभिन्न निर्देशों (Guidlines) का विस्तृत विवरण है। आज भी सुशासन की संभावनाओं को अर्थशास्त्र में खंगाला जा रहा है। इस दिशा में गहन शोध जारी है।

साहित्यिक रचनाएँ–साहित्य समाज का दर्पण है। प्राचीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक जीवन पर साहित्यिक लेखन भरपूर प्रकाश डालती है।

गुप्तकाल एवं गुप्तोत्तर काल की संस्कृत साहित्य का विपुल भंडार हमें प्राप्त है। महाकवि कालिदास की रचनाएँ कुमारसंभव शाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम् जैसे ग्रंथों से गुप्तकालीन समाज और धर्म की पर्याप्त जानकारी मिलती है। हर्ष की रत्नावली, नागानंद और प्रियदर्शिका; शूद्रक की मृच्छकटिकम् विशाखदत्त की मुद्राराक्षस और देवी चन्द्रगुप्तम् ऐसी साहित्यिक रचनाएँ हैं जो तत्कालीन जीवन के विविध पक्षों के साथ इतिहास संबंधी सूचनाएँ भी देती है।

इनके अतिरिक्त बृहत्कथा, बृहत्कथामंजरी, कथासरित सागर प्राचीन उत्तर भारत के समाज को दर्शाती हैं। दक्षिण के तमिल साहित्य मणिमेखलैः शिल्पदिकारम् आदि दक्षिण भारत के सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालती है। जीवक–चिन्तामणि में दसवीं सदी के कवि तिरूत्तक्कदेवर ने राजनीतिक घटनाओं के साथ–साथ सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को भी दर्शाया है।

1.8 ऐतिहासिक रचनाएँ एवं जीवनी

प्राचीन भारत में कलाकारों, साहित्यकारों, लेखकों को राजाश्रय भी प्राप्त होता था। अतः उनकी रचनाएँ, चाहे वह प्रशस्ति हों या चरित्रगाथा हो, तत्कालीन

राज्य व्यवस्था एवं समाज का वर्णन करती हैं। समकालीन लेखन होने के कारण ये रचनाएँ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अधिक प्रमाणिक लगती हैं। यद्यपि ये अपने राज्य–संरक्षक की थोड़ी पक्षधर हो, इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता। फिर भी इतिहास पुर्ननिर्माण में इनके महत्त्वपूर्ण योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता। इन रचनाओं में प्रमुख है–

कल्हण कृत राजतरंगिणी – कश्मीर के अतीत से लेकर कल्हण काल (बारहवीं सदी) तक का इतिहास इसमें समाहित है। इसमें सामाजिक रीति–रिवाज, आचार–विचार और व्यवहार का उदाहरण सहित उल्लेख है तथा धार्मिक व्यवस्थाओं और पद्धतियों का भरपूर चित्रण है।

कबाणभट्ट कृत हर्षचरित–यहइतिवृत्तात्मक ग्रंथ है– सम्राट हर्षवर्धन के चरित्र चित्रण के साथ वाक्पतिराजकृत प्राकृत काव्य गौडवहो– कन्नौज शासक यशोवर्धन की विजयों तथा तत्कालीन समाज का विवरण पद्मगुप्त।

परिमल कृत नवसहसांकचरित– मालवा के परमार शासकों के वंश और उनके इतिहास से संबंधित रचना।

विल्हण कृत विक्रमांकदेव चरित्– कल्याणी के चालुक्यवंशी शासकों के इतिहास से संबंधित रचना।

सन्ध्याकर नान्दी कृत 'रामचरित'– बंगला के पाल राजवंश संबंधी रचना।

जयानक कृत पृथ्वीराजविजय – राजस्थान के चाहमान वंश संबंधी।

आनन्दभट्टकृत बल्लालचरित – बंगाल के सेन वंश के इतिहास सम्बन्धी।

इनके अतिरिक्त कुछ और महत्त्वपूर्ण रचनाएँ चतुर्विंशति– प्रबन्ध, हम्मीर महाकाव्य, भोजप्रबंध आदि हैं जो प्राचीन भारत के सामाजार्थिक जीवन पर प्रकाश डालती हैं।

1.9 बौद्ध साहित्य

बौद्ध साहित्य में प्राचीन भारत के हिन्दू समाज पर सम्यक प्रकाश पड़ता है। लगभग ई0पू0 पहली सदी में रचित 549 जातकों में बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं का विवरण है जो जीवन के विविध पक्षों को उजागर करते हैं।

त्रिपिटक–इसके माध्यम से तत्कालीन समाज और धर्म का चित्रण मिलता है। ये तीन भागों में बँटते हैं।

1. **सुत्तपिटक** : इसमेंभगवान बुद्ध के उपदेश हैं। इसके पाँच निकाय है– दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, खुद्दक निकाय ।

2. **अभिधम्मपिटक** : इसमें धर्म के दार्शनिक पक्ष का वर्णन है।

3. **विनय पिटक** : इसमें बौद्ध संघ, भिक्षु एवं भिक्षुणियों की आचार संहिता का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त लंका में रचित महावंश और दीपवंश भी महत्वपूर्ण है। मिलिन्दपन्हो ग्रंथ यूनानी शासक मिनान्डर के अलावा तत्कालीन समाज और धर्म पर प्रकाश डालता है। महावस्तु, ललितविस्तर, बुद्धचरितम्, दिव्यावदान (मौर्यकालीन वर्णन); मंजुश्रीमूलकल्प (प्राचीन राजवंश के इतिवृत्त); चुल्लवग्ग, महावग्ग, पातिमोक्ख, सुत्तविभंग और परिवर नामक बौद्धग्रंथ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन संबंधी महत्वपूर्ण जानकारी के स्रोत है।

1.10 जैन साहित्य

जैनाचार्य हेमचन्द्र के ग्रंथ 'परिशिष्टपर्वन', त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित, द्वयाश्रयमहाकाव्य, महावीरचरित से तत्कालीन समाज के विभिन्न पक्ष उजागर होते हैं।

मेरूतुंग के प्रबंधचिन्तामणि में राजनीतिक इतिहास के साथ–साथ सामाजिक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। सोमेश्वरकृत रासमाला और कीर्तिकौमुदी से गुजराती संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। राजशेखर के प्रबंधकोष, बालरामायण और काव्यमीमांसा राजपूत कालीन समाज और धर्म का वर्णन करती है। उदयप्रमा रचित सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी से सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

इसके अतिरिक्त आचारांगसूत्र, समराइच्चकहा, कथाकोष, आवश्यक चूर्णि इत्यादि महत्वपूर्ण जैन साहित्य स्रोत है।

1.11 विदेशी यात्रियों के विवरण

भारत में समय–समय पर आने वाले विदेशी यात्रियों के विवरणों से भी प्राचीन भारतीय इतिहास के पुर्ननिर्माण में मदद मिली। इन लेखकों में यूनानी, चीनी एवं अरबी–फारसी लेखकों का विवरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

1.11.1 यूनानी–रोमन लेखक

यूनान के प्राचीनतम लेखकों में टेसियस एवं हेरोडोटस के नाम प्रसिद्ध है। टेसियस ईरान का राजवैद्य था तथा उसने ईरानी अधिकारियों द्वारा ही भारत के विषय में जानकारी प्राप्त की। ये आश्चर्यजनक कहानियों से युक्त होने के कारण बहुत विश्वसनीय नहीं है। हेरोडोटस को **'इतिहास का पिता'** कहा जाता है। उसने अपनी पुस्तक **हिस्टोरिका** में पाँचवी शताब्दी ई0पू0 के फारस–भारत के संबंध का वर्णन किया है। इनका विवरण अनुश्रुतियों पर आधारित है। सिकन्दर के

साथ आने वाले लेखकों में निर्याकस, आनेसिक्रिटस तथा अरिस्टोबुलस के विवरण पूर्व के लेखकों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय है। ये अपने देशवासियों को भारत के बारे में बताना चाहते थे। अतः उनका वृतान्त विश्वसनीय है। सिकन्दर के बाद भारत आने वाले लेखकों में प्रमुख मेगस्थनीज, डाइमेकस एवं डायोनिसियस थे। ये पाटलिपुत्र के मौर्य दरबार में राजदूत के रूप में यूनानी शासकों द्वारा भेजे गये थे। मेगस्थनीज सेल्यूकस 'निकेटर' का राजदूत था तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया था। उसकी 'इंडिका' में मौर्ययुगीन समाज एवं संस्कृति के विकास में लिखा गया है। ये पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। इंडिका मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। उसके कुछ अंशमात्र एरियन, स्ट्रेबो, जस्टिन के लेख में मिलता है। डाइमेकस (सीरियन नरेश अन्तियोकस का राजदूत) बिन्दुसार के दरबार में तथा डायोनिसियस (मिस्र नरेश टालमी फिलेडेल्फस का राजदूत) अशोक के दरबार में आया था। इसके साथ ही **पेरीप्लस आफ द इरिथियन सी रालमी** का भूगोल, प्लिनी का **नेचुरल हिस्ट्री** प्रमुख जानकारी के प्रमुख स्रोत हैं।

1.11.2 चीनी लेखक

चीनी यात्री बौद्ध धर्म को मानने वाले थे। अतः उन्होंने बौद्ध तीर्थस्थलों की यात्रा की तथा बौद्ध धर्म संबंधी ज्ञानवर्धन किया। इसमें फाहियान, सुंगयुन, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग प्रमुख थे। फाहियान, गुप्तनरेश चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (375–415ई0) के दरबार में आया था।उसके अनुसार मध्यदेश की जनता 'सुखी एवं समृद्ध' थी। ह्वेनसांग, महाराज हर्षवर्द्धन के समय (629ई0 के लगभग) भारत आया। वह 16 वर्ष यहाँ रहकर विभिन्न स्थानों की यात्रा की तथा नालन्दा विश्वविद्यालय में 6 वर्षों तक रहकर शिक्षा प्राप्त की। उसका भ्रमण वृत्तान्त 'सि–यू–की' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें हर्षकालीन समाज, धर्म, राजनीति के बारे में लिखा गया है। इत्सिंग सातवीं शताब्दी के अन्त में भारत आया था। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय, विक्रमशिला विश्वविद्यालय तथा तत्कालीन भारत की दशा का वर्णन किया है। इसके अलावा मात्वानलिन् हर्ष के पूर्वी अभियान का वर्णन करते हैं। चाऊ–जू–कुआ चोल इतिहास के बारे में लिखता है। हवीली ने **'ह्वेनसांग की जीवनी'** लिखा है। जिससे हर्षकालीन दशा का ज्ञान होता है।

1.11.3 अरबी यात्री

पूर्वमध्यकालीन भारत के सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन पर अरब व्यापारियों एवं लेखकों द्वारा प्रकाश डाला गया है। इनमें अल्बरूनी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। गजनी के सुल्तान महमूद अल्बरूनी की योग्यता से प्रभावित होकर उसे राजज्योतिषी के पद पर नियुक्त किया। गणित, विज्ञान एवं ज्योतिष के साथ ही अल्बरूनी अरबी, फारसी एवं संस्कृत भाषाओं का भी अच्छा ज्ञाता था। वह महमूद गजनवी के साथ भारत आया था। किन्तु उसका दृष्टिकोण महमूद से

पूर्णतया भिन्न था और वह भारतीयों का निन्दक न होकर उनकी बौद्धिक सफलताओं का महान् प्रशंसक था। गीता से वह बहुत प्रभावित था। भारतीयों के दर्शन, ज्योतिष एवं विज्ञान संबंधी ज्ञान की वह प्रशंसा करता है। अपनी पुस्तक 'तहकीक–ए–हिन्द (भारत की खोज) में उसने यहीं के निवासियों की दशा का वर्णन किया है। इससे राजपूत कालीन समाज, धर्म, रीति–रिवाज, राजनीति आदि पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। बौद्ध धर्म की कम चर्चा की है। बनारस एवं कश्मीर स्थित शिक्षा केन्द्रों पर वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मणों की समाज में सर्वोच्चता, पेशावर स्थित कनिष्क विहार का वह वर्णन करता है। अल्बरूनी के वर्णन चीनी यात्रियों की भांति उपयोगी नहीं है क्योंकि अल्बरूनी ने भारतीयों से जो कुछ सुना, उसी के आधार पर उनकी सभ्यता का विकास प्रस्तुत किया। इसके अलावा सुलेमान, फरिश्ता, हसन निजाम आदि के लेख महत्वपूर्ण जानकारी के स्रोत हैं। तिब्बती बौद्ध लेखक तारानाथ (12वीं शती) के ग्रंथों–कंग्युर तथा तंग्युर से भारत की जानकारी मिलती है। वेनिसयात्री मार्कोपोलों (तेरहवीं शती) का वृतान्त पाण्ड्य इतिहास के अध्ययन के लिए उपयोगी है।

1.14 सारांश

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रागैतिहासिक काल से बाहरवीं सदी तक के धार्मिक, आर्थिक और बौद्धिक जीवन का तारतमिक विकास और उनमें समय अन्तराल पर होने वाले परिवर्तन को आत्मसात् किया। उपरोक्त पुरातात्विक, साहित्यिक एवं विदेशी विवरणों से भारतीय समाज का विशिष्ट स्वरूप ऐतिहासिक आलोक में संपुष्ट होता है।

1.14 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय इतिहास के सामाजिक स्रोतों पर टिप्पणी लिखें।
2. प्राचीन भारतीय इतिहास में विदेशी विवरण के महत्व का वर्णन करें।
3. प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत के रूप के पुरातत्व के महत्व का वर्णन करें।

1.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
2. सहाय,शिवस्रंवरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई–2 वर्ण : प्रकृति और उत्पत्ति, विभिन्न वर्गों के कर्त्तव्य, विशेषाधिकार एवं अक्षमताएँ

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्‌देश्य

2.2 वर्ण व्यवस्था की प्रकृति

2.3 वर्ण की उत्पत्ति एवं तत्संबंधी सिद्धान्त

2.3.1 दैवी या परंपरागत सिद्धान्त

2.3.2 गुण संबंधी सिद्धान्त

2.3.3 रंग संबंधी सिद्धान्त

2.3.4 कर्म तथा धर्म संबंधी सिद्धान्त

2.3.5 जन्म संबंधी सिद्धान्त

2.3.6 विदेशी आक्रान्ताओं को वर्ण व्यवस्था में समाहित करना

2.3.7 वैदिक कालीन वर्ण–व्यवस्था

2.4 चार्तुवर्ण्य के विभिन्न वर्गों के कर्तव्य

2.4.1 ब्राह्मण के कर्तव्य

2.4.2 ब्राह्मण विशेषाधिकार

2.4.3 ब्राह्मण के आपदधर्म

2.4.4 क्षत्रिय के कर्तव्य

2.4.5 क्षत्रिय विशेषाधिकार

2.4.6 क्षत्रिय के आपदधर्म

2.4.7 वैश्य के कर्तव्य

2.4.8 वैश्य के आपदधर्म

2.4.9 शूद्र के कर्तव्य

2.4.10 वैश्य के आपदधर्म

2.5 सारांश

2.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.7 अभ्यास प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

भारत में सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है, जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से आज तक, उत्तर से दक्षिण तक सतत प्रवाहमान है। भरत समाज में वर्णों के विभाजन का प्रमुख आधार रंगभेद/प्रजातीय धारणा ही थी। वैसे आर्यों ने यह व्यवस्था भी रखी थी कि कोई भी व्यक्ति कार्य–पद्धति, रूचि व मनः स्थिति के अनुसार वर्ण परिवर्तन कर सकता था किन्तु उत्तर वैदिक काल के परवर्ती युग आते–आते वर्ण व्यवसाय का यह लचीलापन समाप्त हो गया था। कालान्तर में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी अवस्थाओं ने वर्णगत व्यवस्था में किसी न किसी रूप में दिशा निर्देशन किया। अपने भेदपरक प्रभाव व महत्व के कारण इस व्यवस्था में परस्पर मतभेद एवं संघर्ष भी होते रहें। किंतु इसके बावजूद वर्ण–व्यवस्था की जड़े और भी गहरी होती गईं। जो आज भी हिन्दू समाज में वर्तमान हैं।

2.1 उद्‌देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप जान सकेंगे–

- भारतीय सामाजिक संरचना में वर्ण की प्रकृति एवं महत्व के विषय में।
- भारतीय समाज में विभिन्न वर्णो के कतव्यों एव ंअधिकारों के विषय में।

2.2 वर्ण व्यवस्था की प्रकृति

वर्ण शब्द में उत्पत्ति संस्कृत में वृञ्, वरणे अथवा वरी धातु से हुई है। जिसका अर्थ है चुनना अथवा वरण करना। संभवतः वर्ण से तात्पर्य वृत्ति से है अर्थात् विशेष व्यवसाय चुनना। समाजशास्त्रीय भाषा में वर्ण का अर्थ वर्ग से है, जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध है। वर्ण से तात्पर्य उस सामाजिक वर्ग से है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य एवं स्थान है, और जो अपने हितों एवं स्थितियों के प्रति जागरूक होता है। आर्य वर्ण तथा अनार्य (दास) वर्ण अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत आते है।

सर्वप्रथम ऋग्वेद में वर्ण शब्द प्रयुक्त हुआ, जो पूर्ववैदिक युग की समाज रचना के प्रारंभिक स्वरूप को स्पष्ट करता है।उसमें वर्ण का प्रयोग रंग अथवा प्रजाति के अर्थ में है। श्वेत/श्याम दो ही वर्ण थे आर्य/अनार्य अथवा दास (दस्यु)। तत्कालीन समाज का इस विभाजन समबन्धी आर्य–आक्रमण सिद्धान्त (Aryan Invasion Theory-AIT) एवं आर्य अनाक्रमण सिद्धान्त (Non-Invasion Thoery) आज भी विवाद का विषय है। यह वर्गीकरण सांस्कृतिक था, जिससे दो विपरीत जनजातियों का स्वरूप विकसित हुआ। वेदों के अनुसार आर्य सदाचार का

अनुसरण करने वाले थे, जबकि अनार्य दुर्वृत्तियों एवं अनियमितता को उत्पन्न करने वाले थे। आर्य बाहर से आये थे और हड़प्पा संस्कृति के निवासियों को पराजित कर उन्हें दास बनाया था, ऐसा सामान्यतः माना जाता है।

आर्यो के स्वदेशी होने की संभावनाओं पर गहन शोध जारी है। दोनों वर्गो में जन्मगत, रक्तगत,संस्कारगत प्रजातीय भेद था तथा कर्म भी अलग–अलग थे जिनका पृथक अस्तित्व वैदिक काल के प्रारंभिक काल तक था। परवर्ती कालीन पुरुष सूक्त (ऋग्वेद X, 90) के आधार पर ऋग्वैदिक काल के आरंभ से ही ब्राह्मण राजन्य (क्षत्रिय) वैश्य एवं शूद्र रूपी चातुर्वर्ण्य समाज की परिकल्पना की गई। इस सूक्त में इन चारों वर्णो की उत्पत्ति आदि पुरुष के भिन्न–भिन्न अंगों से बतलाई गई है। संभवतः पुरुषसूक्त प्रक्षिप्रांश है। एन0के0 दत्त (ओरिजिन ऐंड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इण्डिया, कलकत्ता, 1931) के अनुसार पुरुषसूक्त परवर्ती रचना है, वर्ण–व्यवस्था ऋग्वेद कालीन न होकर परवर्ती काल की सामाजिक व्यवस्था है। अतः ऋग्वेद में जन, विश्, गण, व्रात, सार्ध आदि जिन इकाईयों का उल्लेख मिलता है। वे सभी भाई–चारा सिद्धांत पर आधारित थी और कबायली संगठन की ओर इंगित करती है। यही कारण है कि विश् को आधार मानकर अनेक उपसर्ग जोड़कर जैसे आ–विश् उप–विश्, नि–विश्, प्र–विश्, पुनर–विश् आदि अभिव्यक्तियों के द्वारा लोगों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवेश, पुनः प्रवेश संस्थापन आदि का उल्लेख ऋग्वेद (ऋग्वेद 39.121) में प्रायः मिलता है। साथ ही इसमें परवर्ती कालीन वर्ण व्यवस्था का कोई चिन्ह भी नहीं दीखता है। इसका स्पष्ट प्रमाण इससे मिलता है कि तथा कथित निम्न वर्ग अर्थात् शूद्रों पर किसी तरह की अपात्रताएं नहीं लगाई गई थीं, अपितु समाज के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है। कोई भी विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग न था– यहाँ तक कि राजन् भी सम्पूर्ण कबीले के अन्य लोगों जैसा ही था– यो व सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव (ऋग्वेद 34.12)।

दास : ऋग्वैदिक कालीन समाज में दास एवं दस्यु का उल्लेख भी अत्यंत आवश्यक है। वस्तुतः ये लोग कौन थे? पाश्चात्य इतिहासकारों के अनुसार ये भारत की आदि निःवासी थी जिनका प्रबल विरोध आर्यो को झेलना पड़ा। दैवीय सहायता से ही वे आदिम जाति का मुकाबला करने में सफल रहे। किन्तु दास एवं दस्याओं को अनार्य श्रेणी में रखना समस्या या अत्यन्त सरलीकरण प्रतीत होता है। संभवतः ये लोग आर्यो के विभिन्न दलों के प्रतिनिधि हो और कुछ सांस्कृतिक मतभेदों के कारण दास कहलाये गये है।

उदाहरणार्थ यदु एवं तुर्वश जातियाँ निःसंदेह आर्य पंचमानुषों में गिनी जाती थी किंतु इन्हें भी एक जगह दास कहा गया है। ऋग्वेद के दो महत्वपूर्ण नायकों–दिवोदास एवं सुदास के नामों की ध्वनियाँ भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं भाषाशास्त्र की दृष्टि से शम्बर, शुष्ण, तुग्र, वेतसु, चुमुरि, अर्वुद जैसे दास नेताओं के

नाम अनार्य नहीं प्रतीत होते। दास लोगों के बारे में कहा गया है कि वे न अग्नि में हविर्दान करते थे और न ही इन्द्रवरूण के पक्षपाती थे। दस्यु भी अदेवयु (देवताओं में श्रद्धा न रखने वाले) अब्रह्मन (वेदों को न मानने वाले),अयज्वन(यज्ञ न करने वाले) बताये गये है। इसी प्रकार अनार्य अनासः (नासिका रहित अर्थात् चपटी नाम वाले),मृघ्रवाचः (कटु बोलने वाले आदि विशेषणों के आधार पर दस्युओं को आर्यो से भिन्न जाति एवं संस्कृति वाला बताया गया है। कुल मिलाकर ऋग्वेद में दासों की तुलना में दस्युओं को आर्यो का बड़ा शत्रु बताया गया है। दस्युहत्या का उल्लेख कहीं अधिक हुआ है। आर्यों के हृदय इनके प्रति भय तथा घृणा के भाव से आच्छादित रहते थे।

कृष्ण मोहन श्रीमाली के अनुसार—दास एवं दस्यु भारत की आदिम अनार्य जाति ही नहीं अपितु आर्यों के ही वे अंश हो सकते हैं, जो विभिन्न समयों में भारत आये और जो सांस्कृतिक भिन्नता रखते थे। इस संदर्भ में एक रोचक तथ्य यह है कि ऋग्वेद में दान के लिए पुरुषदास का उल्लेख बहुत कम मिलता है जबकि नारी दासों को दान की वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि धनी वर्ग में संभवतः घरेलू दास प्रथा ऐश्वर्य के एक स्रोत के रूप में विद्यमान थी किंतु आर्थिक उत्पादन में दास प्रथा के प्रयोग की प्रथा प्रचलित न थी।

उत्तरवैदिक काल तक आते—आते आर्य/अनार्य (दास) का विरोध तथा द्विवर्ण का स्वरूप समाप्त सा हो गया। इनके स्थान पर चातुर्वर्ण्य का उल्लेख प्रारंभ हो गया (अथर्ववेद, 3.5.7 श0 ब्रा0 5.5.4.9)। वैसे इन चारों वर्णो के बीच परस्पर सम्बंध थे। निश्चय ही ये सम्बंध अर्न्तजातीय विवाह के कारण थे जिनके परिणाम स्वरूप अनेक आर्यों ने अपने मूल अस्तित्व को ही खो दिया। धीरे—धीरे वर्गगत एवं रक्तगत संकरता का विस्तार होता गया एवं विजातीयता का भी लोप हो गया। परिणामतः इस युग में दासीपुत्र औशिज, वत्स तथा दीर्घतमा जैसे लोग ऋषि कहलाये। आर्यवर्ण तथा दास वर्ण का अन्तर समाप्त प्राय हो गया। परस्पर प्रतिस्पर्धा कमजोर हुई। सामूहिक सामन्जस्य के कारण अलग—अलग वर्णो का विकास हुआ। अनार्य अथवा दास को चतुर्थ वर्ण के अन्तर्गत शूद नामक एक पृथक वर्ग के रूप में चातुर्वर्ण्य में सम्मिलित किया गया। इसके बावजूद प्रारंभिक तीनों वर्णों ने जो आर्य के रक्त से सीधे सम्बंधित भी थे, अपनी रक्तशुद्धता एवं श्रेष्ठता बनाये रखा। जिससे आर्य संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही।

2.3 वर्ण की उत्पत्ति एवं तत्सम्बंधी सिद्धान्त

वर्ण—व्यवस्था का विकास, सहस्तों वर्षो में क्रमशः इतिहास की घटनाओं के संदर्भ में हुआ है। विभिन्न वर्णो के कर्त्तव्य निर्धारण में गुणात्मकता, व्यवसायात्मकता, वैज्ञानिक पद्धति एवं समाज की आवश्यकता को प्रधानतः ध्यान में रखा गया। समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति अपने—अपने कर्मों को निरन्तर निष्ठापूर्वक कर

सके–इसके लिए धर्म की सहायता ली गई। अतः वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त भी कई रूपों में विकसित हुए।

2.3.1 दैवी सिद्धान्त

प्राचीन धर्मशास्त्रों में वर्णों की उत्पत्ति का स्वरूप धार्मिक माना गया। ऋग्वेद में वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष से हुई थी–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।

उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।। (ऋग्वेद, 10.90.12)

अर्थात् विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरू (जाँघ) से वैश्य और पद (पैर) से शूद्र उत्पन्न हुए। ब्राह्मणों की उत्पत्ति मुख से इसलिए कही गई कि उसका समस्त कार्य मुख से सम्बंधित था, अर्थात् शिक्षा और विद्या प्रदान करना। क्षत्रियों को बाहु से इसलिए उत्पन्न माना कि उनका प्रमुख कार्य, देश की सुरक्षा, प्रशासन आदि बाहु से आबद्ध था। बाहु शक्ति और शौर्य क परिचायक माना गया है। वैश्यों की उत्पत्ति जाँघ से इसलिए स्वीकार की गई कि उनका प्रमुख कार्य समाज की आर्थिक अवस्था सुदृढ़ करना था। वे वार्ता (कृषि, पशुपालन व वाणिज्य व्यापार) से समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। शूद्रों की उत्पत्ति पैर से इसलिए कही गई कि अपनी सेवा द्वारा वे तीनों वर्णों और समाज को गति प्रदान करते थे। पैर का प्रमुख कार्य है शरीर के ऊपर के भार को ग्रहण करना और शरीर को गतिमान रखना। इसी प्रकार यह माना गया है कि चारों वर्णों के बिना समाज का कोई महत्त्व नहीं है। संभवतः वर्ण व्यवस्था को दैवीय स्वरूप प्रदान करने के पीछे यह मन्तव्य होगा कि व्यक्ति ईश्वर भय से वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत निर्धारित कर्म को करें तथा व्यवस्था का उल्लंघन न करें।

जी0एस0 घूरे ने अपनी पुस्तक 'कास्ट एण्ड क्लास एण्ड आकुपेशन' इस संदर्भ में अपने विचार कुछ इस प्रकार व्यक्त किये हैं कि ऋग्वेद के मूल अंश के लेखन तक संभवतः वर्ण व्यवस्था जैसी कोई संस्था विकसित नहीं हुई थी। कालान्तर में प्रक्षेपित अंशों के जुड़ जाने के कारण वर्ण व्यवस्था का सूत्र पूर्व–वैदिक काल से ही मान लिया गया तथा इन वर्णों के कार्य और प्रस्थिति को देव–समर्थित माना गया। यद्यपि इनके कार्यों का सही पृथक्करण, इनके अन्य संबंधों का मार्गदर्शन कराने वाले उपनियम तथा उनके लचीलेपन की सीमा भले ही ऋग्वैदिक साहित्य के मुख्य भाग में न वर्णित की गई हो, तो निश्चित रूप से तत्कालीन कर्मकाण्ड या पूजाविधि के स्वरूप से संबंधित थी।

वर्ण–व्यवस्था के उत्पत्ति सम्बन्धी दैवीय सिद्धान्त का उल्लेख महाभारत में भी किया गया है। इसमें केवल विराट पुरुष के स्थान पर ब्रह्म का उल्लेख किया है, शेष पूर्ववत् है। गीता में श्रीकृष्ण का कथन है कि चारों वर्णों की सृष्टि मैंने गुण

और कर्म के आधार पर की है। मनुस्मृति, पुराणों में भी यही भाव है। अपवाद स्वरूप वायुपुराण में क्षत्रिय वर्ण को ब्रह्मा के बाहु से उत्पन्न न मानकर वक्ष से उत्पन्न माना गया है। ग्यारहवीं सदी के अरब यात्री ने भी ब्रह्म के अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति बताई है।

2.3.2 गुण सम्बन्धी सिद्धान्त

मनुष्य अपने गुणों से महान होता है, न कि अपने वंश या परिवार से। मनुष्य की आंतरिक प्रकृति एवं प्रवृत्तियाँ, गुण को व्यक्त करती है। **'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवा।' (गीता, 14.5)** अर्थात् प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार के गुण सत्त्व, रज एवं तम निर्दिष्ट किये गये है।

क. सत्व गुण : यहनिर्मल, स्वच्छ, द्वेषरहित, ज्ञान प्रदाता और सांसारिकता से विमुक्त करने वाला होता है। इस सात्विक गुणों के कारण व्यक्ति आत्मिक सुख का आनन्द प्राप्त करते हैं, श्रेष्ठतम स्थिति को प्राप्त करता है।

ख. रजगुण : इसमें व्यक्ति अनुरक्त होता हुआ अपने कर्मों को सम्पन्न करता है। सत्व की तुलना में रजोगुण निम्न है क्योंकि यह मनुष्य को भौतिक सुख की ओर आकृष्ट कर सांसारिक बंधन में बांधता है।

ग. तम गुण : तम अज्ञानता रूपी अंधकार है जिससे भ्रम, आलस्य, प्रमाद, निद्रा, मोह उत्पन्न होता है और मनुष्य उससे ग्रस्त हो जाता है।

सत्व सुख, रज कर्म तथा तम अज्ञानता का द्योतक माना गया है। इन्हीं गुणों से मनुष्य अपना विकास करता है। ब्राह्मण के लिए सत्वगुण की अपेक्षा की गई, क्षत्रिय के लिए रजोगुण की, वैश्य के लिए रजस और तमस दोनों गुणों के मिश्रित स्वरूप की तथा शूद्र के लिए तमोगुण की। मनुस्मृति (12.24) में भी इन तीनों गुणों की चर्चा की गई।

सात्विक ब्राह्मण उत्तम गुण सम्पन्न, रजोमय क्षत्रिय मध्यम, वैश्य मध्यम व अधम गुणों से समन्वित तथा शूद्र जघन्य गुण युक्त था।

2.3.3 रंग सम्बन्धो सिद्धान्त

'वर्ण' का अर्थ 'रंग' भी है। इसी अर्थ में वर्ण का प्रयोग ऋग्वेद काल में 'आर्य' (श्वेत) एवं 'दास' (कृष्ण) के सन्दर्भ में किया गया है। विभिन्न वर्णों के रंग के अर्थ में वर्णन महाभारत (शांतिपूर्व, 188.5) में मिलता है–

'ब्राह्मणानां तु सितो क्षत्रियाणां तु लोहितः।

वैश्यानां पीतको वर्ण शूद्रणामसितस्था।।'

रंगों पर आधारित ये गुणात्मक वर्णन मनुष्य की त्वचा के रंग को नहीं, बल्कि

उनके कर्मप्रधान गुण को उद्‌घाटित करती हैं। मनु (12.27–30) ने कुछ इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये है। श्वेत/सत्व, वेदाभ्यासी, तपश्चर्यी, ज्ञान, शौच, शुद्धि, इन्द्रिय–निग्रह युक्त ब्राह्मणों के गुण थे। लोहित/लाल विषयभोग में आसक्त, वीरतायुक्त तथा अप्रीतिकरक रजोगुण से संबंधित कार्य क्षत्रियों के थे। वैश्यों में पीतयुक्त रजत तथा तमस दोनों गुणों का पीतयुक्त रजस तथा तमस दोनों गुणों का समन्वित रूप तथा प्रमाद, अधैर्य, लोभ, नित्य कर्म का त्याग, नास्तिकता आदि तामसी गुणों से युक्त शूद्र वर्ण थे।

2.3.4 कर्म तथा धर्म संबंधी सिद्धान्त

हिन्दू सामाजिक विभाजन में कर्म का सिद्धान्त विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। विभिन्न वर्णों के अलग–अलग कार्य निर्धारित किये गये है। वैदिक युग के आरंभिक काल में विद्या, शिक्षा, तप, यज्ञ में रूचि रखने वाले ब्राह्मण का मुख्य कार्य का वर्णन अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, शंखोपनिषद, बौधायन धर्मसूत्र, कृत्यकल्पतरू, समरांग सूत्रधार आदि सभी में लगभग एक समान है। अध्ययन–अध्यापन; यजन–याजन, दान देना व लेना तथा तप था–**''स्वधर्मों ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं दनं प्रति ग्रहश्च।'' (अर्थशास्त्र 1.3)**

क्षत्रिय/राजन्य का प्रधान कर्म, देश (प्रजा) की रक्षा, राज्य का प्रशासन करना था। वैश्य का प्रमुख कर्तव्य वार्ता (कृषि, पशुपालन तथा व्यापार) संबंधी शूद्र समाज के तीनों वर्णों की सेवा तथा परिचारक वृत्ति करने वाला था। ये ही वर्ण धर्म है।

धार्मिक परिप्रेक्ष्य में और भी सबल होकर कर्म का यह सिद्धान्त कर्मफल के दर्शन एवं पुर्नजन्म में भी व्याख्यायित हुआ। छान्दोग्य उपनिषद् (5.10.7) में कहा गया है कि अच्छा कर्म करने वाले का जन्म मनुष्य योनि के ऊँचे वर्ण में होता है और बुरा कर्म करने वाले का कुत्ता, शूकर और चाण्डाल जैसी अशुभ योनियों में।

ऋग्वेद (9.63.5) में एक स्थल पर कहा गया है कि **'कृण्वन्तो विश्वं आर्यम्'** अर्थात् समस्त विश्व को आर्य बनाओ। इससे स्पष्ट है कि संसार के लोगों को आर्य तभी बनाया जा सकता था जब दोनों का अंतर जन्म या रक्त पर आधारित न होकर कर्म पर आधारित है। सत्कर्म करने वाले आर्य थे और दुष्कर्म करने वाले दास या अनार्य। **मज्झिम निकाय (39.6)** में मिलता है–**''हे आश्वलायन, क्या तुम जानते हो कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमावर्ती देशों में आर्य तथा दास दो ही वर्णन होते हैं। 'दास' आर्य हो सकता है और 'आर्य' दास।''** इससे सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज कर्मप्रधान था। कालान्तर में जब समाज चातुर्वर्ण्य में विभाजित हुआ। वह भी कर्म पर भी आधारित था। सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति की प्रधान वृत्ति उसके गुणयुक्त कर्म को उत्पन्न करती है। गुण वह मानसिक प्रवृत्ति है जो मनुष्य के जैविक और मानसिक चयन में

निहित क्षमताओं से उत्पन्न होती है। उपनिषदों में भी कर्म को महत्व दिया गया है–**'कर्मस चामृतम'** अर्थात् कर्मों का सम्पादन अमृतत्व का साधन माना गया है (मुण्डकोपनिषद् 1.1.8)। बृहदारण्यक उपनिषद् (3.2.13) में याज्ञवल्क्य ऋषि ने जीवन की मीमांसा करते हुए यह मत व्यक्त किया–**'पुण्यों वै पुण्येन कर्मणा भवसि पापः पापेन',** अर्थात् 'पाप कर्म का फल प्राप्त होता है और पुण्य कर्म का फल पुण्य।' इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड पुराण (2.7.133) एवं वायु पुराण (8.140.41) आदि में भी कर्म सिद्धांत का प्रतिपादन कुछ इस प्रकार किया गया है, 'पूर्वजन्म के परिणामस्वरूप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र उत्पन्न हुए।'

जय शंकर मिश्र, (प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 63–64) के अनुसार निश्चित ही उत्पत्ति विषयक कर्म का यह सिद्धान्त आदि भारतीय जीवन को अभिव्यक्त करने में बहुत अधिक सक्षम नहीं है। इतना अवश्य है कि वर्तमान जीवन मूल्यों को व्यक्त करने में इसे यथोचित सफलता मिली है। उच्चता और निम्नता को स्वीकार करते हुए कर्मप्रधान जीवन की प्रमुखता ही कर्म विषयक सिद्धान्त का प्रतिपाद्य है।

इस सन्दर्भ में बौद्ध जीवन दर्शन एवं स्वयं महात्मा बुद्ध के विचार को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को समझने में कम महत्वपूर्ण नहीं है। जिसमें कभी मनुष्य के जीवन की प्रस्थिति उसके आचार से निर्धारित की गई और कभी उसके जन्म से। एक विवाद में कि– मनुष्य जन्म से ब्राह्मण है या कर्म से– बुद्ध ने निपटारा करते हुए कहा कि कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता हैं। (रिचर्ड फिक, सोशल आर्गेनाइजेशन इन नाथ इंडिया, पृ0 209)। इसी क्रम में और भी सन्दर्भ मिलते हैं, जो इस विषय को सुलझा सके। तत्कालीन समाज के वास्तविक जीवन में सम्भवतः जन्म से ही प्रस्थिति का निर्धारण होता था। एक जातक कथा के अनुसार एक गणिका–पुत्र बुद्ध के पिता के नाम पर अपना नाम रखना चाहता था। इस पर बुद्ध ने कहा–**'नीच स्त्री से जन्में उस बालक को परिवार का नाम नहीं दिया जा सकता।' (रिचर्ड फिक, सोशल आर्गेनाइजेशन...., पृ0 220–21)**

स्पष्ट है कि तत्कालीन जीवन में जाति की ही प्रधानता थी किंतु बुद्ध का स्वयं का विचार कर्म प्रधान था, और वह इसी आधार पर मनुष्य की जाति के निर्धारण के पक्ष में थे।

2.3.5 जन्म संबंधी सिद्धान्त

महाकाव्य काल तक वर्ण व्यवस्था का आधार पूर्णतः जन्म हो गया। वैदिक युग में वशिष्ठ (ब्राह्मण) और विश्वामित्र (क्षत्रिय) के बीच ब्राह्मणत्व एवं पौरोहित्य को लेकर विचारों का द्वन्द्व और आचारों का संघर्ष चला। द्रोणाचार्य का कर्म क्षत्रिण वर्ण का था, किन्तु वे जन्म से ब्राह्मण थे, इसलिए वे ब्राह्मण ही माने गये। युधिष्ठिर

सात्विक कर्म करते थे, परंतु वे क्षत्रिय ही कहे जाते थे। राज्य प्राप्त करने के पश्चात् भी कर्ण क्षत्रिय कहलाने से वंचित था, वह सूत पुत्र ही कहलाया। परशुराम ने भी क्षत्र धर्म को अपनाया किंतु वे क्षत्रिय नहीं कहे जा सके, बल्कि वे ब्राह्मण में सर्वश्रेष्ठ विजेता थे। पुष्यमित्र शुंग (ब्राह्मण) ने क्षात्र धर्म अपनाकर शुंग राजवंश की स्थापना की थी, किंतु न तो वह और न ही उनके वंशज क्षत्रिय कहलाये और कण्व, सातवाहन एवं वाकाटक राजवंश आदि ब्राह्मण राजवंश थे– क्षत्रिय कर्म करते हुए भी वे ब्राह्मण ही कहलाये। इसी प्रकार के कई उदाहरण हैं, जो वर्ण निर्धारित कर्म न करते हुए दूसरे कर्म कर रहे हों किन्तु उनकी पहचान उनके जन्मगत वर्ण से ही होती पाई गई।

2.3.6 विदेशी आक्रान्ताओं का भारतीयकरण

भारत पर विदेशी आक्रमण का आरंभ लगभग छठी सदी ई0पू0 से हुआ, जो बाद तक चलता रहा। रामायण में **'योनिदेशच्च यवनाः शकरस्थानात्तथा शकाः'**– यवनों, शकों का उल्लेख मिलता है। साथ ही महाभारत के शांतिपर्व (68.13.14) में यवन, शक, पहलव, किरात, चीन तथा बर्बर जातियों का विवरण मिलता है। इनमें से अधिकांश ने अपने राज्य स्थापित किये थे और यहाँ बस गये। अनेक विदेशियों ने भारतीय धर्म और संस्कृति को स्वीकार कर लिया था। हेलियोडोरस ने भागवत धर्म को स्वीकारा, यवन–बाख्त्री सेनापति मिनाण्डर ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था। शक शासक रूद्रदामा ने शैव धर्म से प्रभावित होकर उसी के अनुरूप अपना नाम भी रखा था। कुषाण शासकों ने भारतीय धर्म और संस्कृति को अपनाया था। इनमें से अधिकांश भारतीय संस्कृति में घुलमिल गये, किंतु उस युग में भी भारतीय समाज दृढ़ वर्ण व्यवस्था पर आधारित था– जिसमें पंचम वर्ण की बात सोचना भी असंभव था– ऐसा महाभारत तथा मनु के विचार हैं।

ऐसी कठोर वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत अन्य जातियों को सम्मिलित किया जाना असंभव था। अतः समाज व्यवस्थापकों ने सुधारवादी दृष्टिकोण से कर्म के आधार पर समाज का पुर्नगठन करने का प्रयास किया। विदेशी जातियों का मूल कर्म था युद्ध करना। राज्य और प्रशासन से संबंधित विदेशी जातियाँ क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत स्वीकार की गई और इसके अतिरिक्त कर्म करने वाली जातियाँ शूद्र वर्ण में सम्मिलित हुई (महाभारत, अनुशासन पर्व, 33, 21, 23)।

मनु ने क्रिया के लोप से बचने वाली पौण्ड्रक, चोडू, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पहलव, चीन, किरात, करद और शक जैसी जातियों की चर्चा की है, जो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में शूद्र के अन्तर्गत स्वीकार की गई थी।

सुधारवादी चिंतकों के कारण जन्म के स्थान पर कर्म को कभी–कभी महत्व दिया गया है– जिससे लगता है कि वर्ण व्यवस्था की कठोरता अपेक्षाकृत कम थी। महाभारत (12.292.2–4) युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ सम्पन्न करते हुए सच्चरित्र

और सुधी शूद्र को सम्मान देते हुए उनके प्रतिनिधि को भी आमंत्रित किया जाना, इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया गया है (ऋग्वेद, 1.164. 45.........) जो एक वर्ग अथवा समूह की ओर भी इंगित करता है। अनेक स्थलों पर ब्रह्मपुत्र शब्द की भी व्यवस्था मिलती है, जिससे आनुवंशिकता का पता चलता है। (घूरे, कास्ट ऐंड रेसइन इंडिया, पृ0 44)। वैसे ब्रह्म का साधारण अर्थ 'प्रार्थना' अथवा 'मंत्र' है। जो आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है। उल्लेख है कि विश्वामित्र का यह 'ब्रह्म' भारत के जन समुदाय की रक्षा करता है। अग्नि देवता की प्रार्थना करते हुए यह कहा गया है कि तुम अपनी ज्वाला से हमारे 'ब्रह्म' और 'यज्ञ' का वर्धन करो। स्पष्ट है कि यज्ञ, मंत्र, प्रार्थना आदि कार्यों में संलग्न वर्ग ब्राह्मण के अन्तर्गत माना गया। वह विद्वान, मनीषी, वाक्परिमिता आदि भी स्वीकार किया गया है।

'ब्रह्मपुत्र के आधार पर उसका जाति विकास आनुवांशिक रहा हो, शंकास्पद है।एक स्थल पर ब्राह्मण ऋषि का कथन है, **''मैं कारन (मंत्र निर्माता) हूँ। मेरे पिता भिषक (वैद्य) और मेरी माता उपज प्रक्षिणी (पत्थर की चक्की से अनाज पीसने वाली ह। अपने भिन्न मत के होते हुए हम सब यह अनुसरण करते हैं।'' (ऋग्वेद 9, 112.3)**

''कारूरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणी नना।

नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम.......।)''

कर्म का महत्त्व था। वसिष्ठ ब्राह्मण थे किन्तु उनके माता–पिता अब्राह्मण, माँ उर्वशी अप्सरा थी और पिता मित्र–वरूणा, भृगु रथ–निर्माण कला में भी निपुण थे किंतु समाज में उनकी प्रतिष्ठा याज्ञिक कर्म, तपश्चर्या व विद्वत्ता से ही थी।

क्षत्रिय शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर हुआ है (ऋग्वेद, 7.62.2) इसके लिए कहीं–कहीं क्षत्र शब्द भी प्रयुक्त किया गया है। क्षत्र का अर्थ प्रायः 'शूरता' व 'वीरता' से लिया जाता था। आर्यों के तत्कालीन समाज में क्षत्रिय समूह के रूप में ऐसे शूर–वीरों का एक वर्ग बन गया था जो यहाँ के मूल निवासियों से युद्ध करके उनके भू–क्षेत्रों पर आधिपत्य स्थापित करता था। ऐसे ही शौर्यवान लोग देवताओं व राजाओं की श्रेणी में सम्मिलित किये गये थे। राजन्य शब्द भी क्षत्रिय वर्ग के लिए प्रयुक्त किया जाता था। (पुरुष सूक्त)

ऋग्वेद में विश् शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है। साधारणतः 'विश्' का अर्थ था 'समूह'। जैसे देवीनां विशम् (दैवी शक्तियों का समूह), 'मानुषीणां विशम्' (मनुष्यों का समूह), दासीविंशः (दासों का समूह) आदि। इस वर्ग के अन्तर्गत आर्यों का शेष जन–समुदाय सम्मिलित था। ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ण वर्गों की तुलना में इस वर्ग का कोई विशेष महत्व नहीं था और न ही इस वर्ग के विषय में कोई और जानकारी

ऋग्वेद से मिलती है। ऐसा लगता है कि तत्कालीन सामाजिक संरचना में वैश्य अपना स्थान धीरे–धीरे बना रहा था तथा अस्पष्ट व धुँधले व्यक्तित्व को भी सँवार रहा था।

शूद्र का स्थान चौथा था। ऋग्वेद में केवल एक बार ही इसका उल्लेख हुआ है और वह भी पुरुषसूक्त में। विराट पुरुष के पेरो से उत्पन्न – निश्चय ही इसका स्तर निम्न था। पराजित किये अनार्य दास के रूप में आर्यो के आश्रय में निवास करते थे, जो शूद्र वर्ग में शामिल हुए। परवर्ती काल में शूद्रों द्वारा ब्राह्मण को दिया जाने वाला दान अग्राहय था, तथापि ऋग्वैदिक युग में यह दान ग्राहय था। बल्बूथ नामक दास ने एक ब्राह्मण में 100 गौ दा में दी थी (ऋग्वेद, 8,46,32)। पारिवारिक भृत्य होने के कारण इन दासों के प्रति आर्यो की सदाशयता सुलभ थी। उस काल में ऋषि पुत्रों के साथ–साथ दास के लिए भी प्रार्थना की गई थी। (ऋग्वेद 1,928) वे सहयोगी थे उनके साथ सौजन्य मानवता का व्यवहार किया जाता था।

2.3.7 वैदिक कालीन वर्ण–व्यवस्था

ऋग्वेदिक युग में चारों वर्णो के साथ मित्रता बंधुता थी जो उनके निर्माणकाल के संगठन के स्वरूप को व्यक्त करता है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अर्न्तगत चातुर्वर्ण का विकास देश काल परिस्थिति के अनुसार सवर्द्धित होता रहा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्राचीन काल से लेकर बारहवी सदी तक विभिन्न परिवर्तनों एवं स्थितियों से होकर विकास की ओर प्रवृत्त हुए। उनके विकास का आधार धर्म था, जो उनके शरीर मन और मस्तिष्क तीनों से सम्बद्ध था। प्रत्येक व्यक्ति से सामान्य धर्म की अपेक्षा की जाती थी जो उसके आचरण और मन से आबद्ध होता था। सत्य, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, अपरिग्रह, दान और दया मनुष्य का सामान्य धर्म था जो उसकी नैतिकता से परिचलित होता था। वस्तुतः व्यक्ति का उत्कर्ष उसकी विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों से ही संभव था। सामाजिक व्यवस्था का आधार इसीलिए कर्म भी रहा है जो धर्ममूलक एवं आचार मूलक दोनों था। ये चारों वर्ण अपने उद्गम, धर्ममूलक प्रवृत्तियों और विशिष्ट संस्कारों के कारण एक दूसरे से पृथक माने जाते रहे हैं। धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में जब कभी भी चातुर्वर्ण का उल्लेख हुआ है, हमेशा यह ध्यान रखा गया है कि उनकी स्थितियों की ऐसी समायोजना की जाये जिससे उनके वरिष्ठता क्रम और श्रेष्ठता में किसी प्रकार का व्यवधान न उपस्थित हो। प्रत्येक वर्ण का निश्चित कर्म धर्म निर्दिष्ट किया जाता था।

2.4 चार्तुवर्ण्य के विभिन्न वर्गों के कर्तव्य

2.4.1 ब्राह्मणों के कर्त्तव्य

विराट् पुरुष के मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण का समाज में सर्वोच्च

स्थान था। सभी विषयों में मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त उसे सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त थे जिससे समाज में उसका स्थान विशिष्ट था। धार्मिक अनुष्ठान उसी द्वारा सम्पन्न होते थे। अर्थशास्त्र (1.3) में उसके कार्य सम्बंधी विवरण मिलता है–

''स्वधर्मो ब्राह्मणस्या ध्ययन मध्यापन यजनं दानं प्रति ग्रहश्चेति'' अर्थात् वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना ब्राह्मण के प्रमुख कर्त्तव्य थे। इसकी पुष्टि अन्य साहित्यिक स्रोतों जैसे–मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति गौतमधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, कृत्यकल्पतरू समरांगणसूत्रधार इत्यादि से भी होती है।

2.4.2 ब्राह्मणों के विशेषाधिकार

हिन्दू समाज में प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों को राजनीतिक, धार्मिक, बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में विशेषाधिकार प्राप्त थे जिससे वे सर्वोपरि हो गये। राजनीतिक क्षेत्र में ऋग्वैदिक युग से ही युद्ध भूमि के राजा,सेनापति के अतिरिक्त राजपुरोहित अथवा सलाहकार साथ भी होता था जो राजा की विजय हेतु देवस्तुति करता और यज्ञ सम्पन्न करता था। उत्तर वैदिक काल में रत्नियों में उसका प्रधान स्थान पाना उसकी और भी सुदृढ़ स्थिति को दर्शाता है। राज्याभिषेक के समय वह राजा को उसके कर्त्तव्य का स्मरण कराता था। राजा भी आश्वासन देता था–**'हे मनुष्यों यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है ब्राह्मणों का राजा तो सोम है'** (श0 ब्रा0, 11.5.7.7)। महाकाव्य काल (महाभारत, शांतिपर्व, 74.1) में भी राजा का योगक्षेम पुरोहित के अधीन माना जाता था। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, 1.9) के अनुसार जैसे शिष्य गुरू को पुत्र पिता को तथा सेवक स्वामी को मानता है, ठीक उसी प्रकार राजा भी पुरोहित को अपना पूज्य मानकर उसका अनुसरण करे। मनु ने भी राजा के मन्त्रियों में एक ब्राह्मण मंत्री नियुक्त करने का उल्लेख किया है। कभी – कभी राजा की अनुपस्थिति में ब्राह्मण स्वयं शासन चलाता था। अयोध्या नरेश त्रय्यारूण और उनके पुत्र सत्यव्रत के राज्य त्याग देने पर पुरोहित वसिष्ठ ने अयोध्या का शासन स्वयं अपने हाथ में लिया था। पूर्व मध्यकाल में भी राजा के अभिषेकोत्सव में ब्राह्मण प्रमुख रूप से शामिल होता था।

ब्राह्मणों के लिये दण्ड में भी काफी विभेदन की स्थिति दिखती है। महाभारत, मनु, स्मृतिपुराण एवं गुप्त कालीन साहित्य के अनुसार ब्राह्मणा अवध्य है तथा ब्रह्महत्या जैसे कार्य को महापातक कार्य बताया गया है। शूद्रक के मृच्छकटिकम् के ब्राह्मण चारूदत्त का हत्यारा सिद्ध किये जाने पर भी ब्राह्मण होने के कारण उसे प्राणदण्ड नहीं दिया गया था। पूर्व मध्यकालीन अल्बरूनी लिखता है कि यदि हत्यारा ब्राह्मण है और मृतक दूसरे वर्ण का है तो उसे उपवास, प्रार्थना या दान के

रूप में केवल प्रयश्चित ही करना पड़ता है। अगर मरने वाला और मारने वाला दोनों ब्राह्मण है तो उसे प्रायश्चित का अधिकार नहीं क्योंकि प्रायश्चित से अपराध समाप्त हो जाता है। कृत्यकल्पतरू बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, लघुवराह नीतिसार में ब्राह्मणों के लिये प्राणदण्ड की व्यवस्था निषिद्ध की गई है, किंतु सुमन्त के संदर्भ में विज्ञानेश्वर (याज्ञवल्क्य, विज्ञानेश्वर, 2.21) ने दुराचारी ब्राह्मण को प्राणदण्ड देने की व्यवस्था की है।

बौद्धिक विशेषाधिकार भी ब्राह्मणों के पास सुरक्षित थे। निरूक्त में कहा गया है कि विद्या अपने त्राण के लिए ब्राह्मण के निकट आई (निरूक्त, 2.4)। त्रयी (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद) का ज्ञाता ब्राह्मण पर ही द्विजों की शिक्षा एवं आध्यात्मिक ज्ञान देने का दायित्व था। मनु के युग तक आकर जन्मना ब्राह्मण अविद्वान होते हुए भी पूजनीय माना गया। समस्त धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन ब्राह्मण ही करवाता था। श्रौत–यज्ञ, देव स्तवन ब्राह्मण ही करते थे। ब्राह्मण ही यजन कार्य करने वाला पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित हो सकता था – जो क्रमशः वंशगत हो गया। कोई भी शासक अपने ब्राह्मण पुरोहित को हटा नहीं सकता था।

ब्राह्मणों को कतिपय राजन्य वर्ग के सदस्यों ने चुनौती दी। महाराज जनक वेदो, उपनिषदों के अपूर्व ज्ञाता था। ब्राह्मण ऋषि याज्ञवल्क्य ने उनसे ज्ञान प्राप्त किया था। ब्राह्मण बालाकि गार्ग्य ने काशी नरेश अजातशत्रु से शिक्षा ग्रहण की। श्रेष्ठता स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा में क्षत्रियों ने निश्चय ही ब्राह्मणों की स्थिति को चोट पहुँचायी और औपनिषद् ज्ञान की अद्भुत व्यंजना की। बाद में याज्ञिक कर्मकाण्ड दार्शनिक ज्ञान के सामने धीमा पड़ने लगा। परिणाम स्वरूप दोनों वर्गो ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के सहयोग एवं सद्भावना की कामना की गई। (ऐ0 ब्रा0, 34.4 श0 ब्रा0 4.1.4.6) छठी शदी ई0 पू0 में बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रसार के कारण ब्राह्मणों का प्रभुत्व मन्द पड़ा।

दूसरी सदी ई0 पू0 के बाद से पुनः ब्राह्मण धर्म का प्रसार हुआ। शुंगवंश के नेतृत्व में पुनः हिन्दू धर्म की स्थापना हुई। शुंगो, सातवाहनों ने यज्ञ परंपरा को पुर्नस्थापित करते हुए अश्वमेध, राजसूय, आप्तोर्त्याम, आग्न्याध्येय आदि किये। गुप्त काल एवं हर्षकाल में ब्राह्मणों को प्रभूत दान एवं महत्व मिला। पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल तक यह परंपरा बनी रही।

सामाजिक विशेषाधिकार के संदर्भ में कहा जा सकता है कि ब्राह्मण की स्थिति हिन्दू समाज में सर्वोच्च थी। वह अपनी विद्वता में समाज को शिक्षित करता था तथा अपनी याज्ञिक क्रिया से उसे धार्मिक बनाता था। उसकी इस स्थिति को देखकर आपसी स्पर्धा का उदाहरण ब्राह्मण, वसिष्ठ एवं क्षत्रिय विश्वामित्र द्वारा बौद्धिक वर्चस्व स्थापित किये जाने के प्रयास में देखा जा सकता है। (रामायण, बालकाण्ड, 56.4)। ऋग्वेद (4.50.8) के अनुसार ब्राह्मण को सम्मान करने वाला नृप

सुख–समृद्धि प्राप्त करता है। तैतिरीय संहिता (1.7.11) के अनुसार **एते वै देवाः प्रत्यक्ष यद् ब्राह्मणाः** अर्थात् वह देवता के समान आदृत था। आचारांग धर्मसूत्र (2. 10.26.10) के अनुसार – दस वर्ष का ब्राह्मण सौ वर्ष के क्षत्रिय की अपेक्षा अधिक आदरणीय था। अथर्ववेद (5.17.8.9) के अनुसार वैदिक काल में ब्राह्मण के लिए प्रत्येक वर्ण से एक पत्नी रखने का अधिकार था।

आर्थिक विशेषाधिकार के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही प्राप्त था। अदायी (यज्ञ की बची सामग्री) ब्राह्मण ही ग्रहण कर सकता था। ब्राह्मण का धन–धान्य राजा के लिए अग्राह्य था (ब्रह्मसव–विष से भी अधिक घोर) था। अर्थशास्त्र के अनुसार 2.1 ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रिय राजकर से मुक्त थे।

किन्तु डॉ0 अल्तेकर एवं डॉ0 घोषाल के अनुसार न तो आदिकालीन महाभारत और नारदस्मृति में और न ही तेरहवी सदी के भारत के अभिलेखों में ब्राह्मणों के सभी वर्गों को करों से मुक्त किया गया। केवल वे ब्राह्मण ही कर युक्त होते थे जो श्रोत्रिय होते थे। यह सत्य है कि ब्रह्मदेय पर उन ब्राह्मणों को कर नहीं देना पड़ता था। किंतु वह कर मुक्ति उनके विशेष कार्यो, जैसे वैदिक शिक्षा देने के लिए थी, जो उनकी अप्रत्यक्ष वृत्ति थी। इस प्रकार प्राप्त विभिन्न आर्थिक विशेषाधिकार मिलने से उनकी स्थिति सुदृढ़ रहती थी।

2.4.3 ब्राह्मणों के आपद्धर्म

हिन्दू धर्मशास्त्रों में विहित निर्देशों के अनुसार परिस्थिति विशेष में स्वधर्म का पालन करते हुए यदि ब्राह्मण अपने कुटुम्ब का भरण पोषण में असमर्थ होता है तो वह क्षत्रिय और वैश्य कर्म अपना सकता था। आपात्काल में ब्राह्मण सैनिक वृत्ति (क्षत्रिय धर्म) अपना सकता था। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, 9.2) के अनुसार **'प्रणिपातेन ब्राह्मणबलं परोऽभिहारयेत्।** अर्थात् शत्रु प्राण भाव द्वारा ब्राह्मणों की सेना को अपने अधीन कर सकता है।

मनुस्मृति (10.81) के अनुसार दुःसाहसी मनुष्यों द्वारा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमवासियों के धर्म का अवरोध होने, समय–प्रभाव से राज्य को अराजक हो जाने के कारण युद्ध आदि की संभावना में, आत्मरक्षा में, दक्षिणाद्रव्य (गौ आदि) के अपहरण सम्बंधी युद्ध में तथा स्त्रियों और ब्राह्मणों की रक्षा में द्विजातियों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिए। महाभारत में ख्यात चरित्र कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा सभी वीर, पराक्रमी, यौधेय ब्राह्मण ही थे।

इसके अतिरिक्त गौतमी पुत्र शातकर्णि (क्षत्रियदर्पमानमर्दन) और शुंगवंश संस्थापक पुण्यमित्र शुंग ब्राह्मण ही थे। उसके बाद ब्राह्मण राजवंश कण्व वंश, वाकाटक सात वाहन वंश, कदम्ब वंश ने शास्त्र के आधार पर अपना वंश स्थापित

कर अपनी प्रभुता स्थापित की।

मध्ययुगीन लेखकों लक्ष्मीधर, हेमचन्द्र के अनुसार ब्राह्मण अपने जीवन यापन हेतु **आयुधजीवी** हो सकता था। सेमप्लेट (इपि0 ई डि0 4,पृ0 158) के अनुसार ब्राह्मण सेनापति कल्हणपुत्र अजयपाल भी सेनापति था।

इसी प्रकार शस्त्र ग्रहण करने से आजीविका न चला सकने के कारण ब्राह्मण कृषि और वाणिज्य के कर्म को अपना सकता था (गौ0 ध0 सू0 10.5.6)। किन्तु कृषि कर्म में हल से भूमि में स्थित जीव की हत्या होती है, अतः ब्राह्मण के लिए वर्जित माना गया है। लक्ष्मीधर (कृत्यकल्पतरू, गृहस्थकांड, पृ0 194) ने उदारवादी केवल को उद्घृत करते हुए कठिन परिस्थितियों में ब्राह्मण को कृषि कर्म करने की अनुज्ञा दी। किन्तु डॉ0 पी0 वी0 काणे (हिस्ट्री ऑफ अर्थशास्त्र, 2 पृ0 724–26) ने ब्राह्मणों की खेती करने की स्थिति पर विवादपूर्ण मत व्यक्त किया है। उन्होंने लक्ष्मीघर के मत का विवेचन नहीं किया है। मध्यकालीन एक अभिलेख से विदित होता है कि राजदेव एवं शूरदेव नामक ब्राह्मण कृषि कार्य करते थे। बौद्ध जातकों में ब्राह्मण को खेती करते पाया गया है।

संकटकाल में ब्राह्मणों द्वारा व्यापार कार्य अपनाने का प्रावधान था बशर्ते कुछ वस्तुओं की बिक्री करने की वर्जना के साथ। मनु ने इन वस्तुओं की सूची दी है। अलबरूनी के अनुसार ब्राह्मण कपड़ो एवं सुपारियों के व्यवसाय अपना सकते थे। ब्याज का कार्य ब्राह्मणों के लिये वर्जित था। किन्तु लक्ष्मीघर ने आपात काल में ब्राह्मण द्वारा द्रव्य के लेन देन करने की छूट दी है। अल्बरूनी के अनुसार ब्राह्मणों के लिए राज्यसेवा वांछनीय नहीं थी। किन्तु लक्ष्मीघर इसमें ढील देते है। आपदधर्म अपनाने के कारण हिन्दू समाज में ब्राह्मणों के कई प्रकार हो गये थे। महाभारत में इनकी छह श्रेणियाँ बताई गयी थी।

2.4.4 क्षत्रियों के कर्त्तव्य

भारतीय समाज में क्षत्रियों की स्थिति ब्रह्मणों थी, किन्तु उनका मान सम्मान और महत्व ब्राह्मणों से कम नहीं था। ऋग्वेद में उन्हें क्षेत्र से सम्बंधित किया गया है जिसका अर्थ शौर्य या पराक्रम से है। ऐसे वीर एवं पराक्रमी को क्षत्रिय कहा गया और यह वर्गीकरण उसके कर्म पर आधारित था। उत्तर वैदिक काल में उसे राजन्य की संज्ञा दी गई। क्षत्रिय वर्ग ने समाज में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया। उस युग में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की स्पर्धा तीव्र हुई। जनक, अश्वपति कैकय काशिराज अजातशत्रु और प्रवहि जैबलि ऐसे क्षत्रिय राजा थे जिन्होंने ने ब्राह्मणों की बौद्धिक चुनौती को स्वीकार किया। पांचाग्नि विद्या का उद्भव एवं उन्नयन क्षत्रियों के कारण ही हुआ था जिसका दर्शन तत्व था आवागमन के सिद्धान्त का प्रति पादन।

अध्ययन – अध्यापन का कार्य क्षत्रिय कर सकते थे। किंतु मनुस्मृति (10.77) के अनुसार कुछ कार्य तथा वेद पढ़ाने, यज्ञ कराने और दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मणों का था–

''त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणाक्षत्रिय प्रति।

अध्यापन याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः।।''

इस प्रकार क्षत्रिय के अधिकार ब्राह्मण से कम थे और समाज में उनका स्थान भी ब्राह्मणों की अपेक्षा निम्न था (महाभारत, भीष्म पर्व 121.35)। यहाँ विचारणीय है कि शासन कार्य के लिए राजा को वेद, धर्मशास्त्र उपवेद और पुराणों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य माना गया है। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, 3.6) के अनुसार क्षत्रिय का प्रमुख कर्म था – अध्ययन करना यज्ञ करना, शस्त्र ग्रहण करना तथा भूतरक्षण करना। और भी मनु (1.89) के अनुसार – क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करे, दान दे यज्ञ करे वेद पढ़े और विषयों में आसक्त न हो। सोमन जातक में राणा अरिन्दम ने अपनी जन्मना श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए कहा– मैं पवित्र क्षत्रिय वंश में उत्पन्न श्रेष्ठ व्यक्ति हूँ (5, पृ0 257)। बौद्ध युग में क्षत्रिय ने ज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में क्रान्ति कर दी। जैन तथा बौद्ध धर्म ऐसी ही क्रान्तिकारी विचारधारा से उद्भूत थे। मौर्य शासकों ने अब्राह्मण धर्मों को अपनाकर ब्राह्मण की श्रेष्ठता मानने से इन्कार कर दिया और जैन–बौद्ध धर्म का प्रश्रय दिया। सर्व विदित है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के अंतिम काल में जैन धर्मावल्म्बी बना और सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का।

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत में पुनः ब्राह्मण धर्म की स्थापना हुई हम जानते है कि किस प्रकार अंतिम मौग्र सम्राट बृहद्रथ की हत्या कर उसका ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने शुंग राजवंश की स्थापना की। गुप्तकालीन सभी स्मृतिकारों, पुराणकारों ने क्षत्रिय को द्वितीय स्थान दिया। पूर्वमध्यकाल तक समाज में उनकी प्रतिष्ठा बनी रही।

पुष्यमित्र शुंग ने शुंग राजवंश की स्थापना की। गुप्तकालीन सभी स्मृतिकारों एवं पुराणकारों ने क्षत्रियों को द्वितीय स्थान प्रदान किया। पूर्वमध्य काल तक समाज में उनकी प्रतिष्ठा एवं गरिमा बनी रही।

2.4.5 क्षत्रियों के विशेषाधिकार

मनुस्मृति (7.96) के अनुसार –

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशूनिस्त्रयं।

सर्व द्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जवति तस्य तत्।।

अर्थात् युद्ध में जीती गई सभी वस्तुएँ (रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य पशु, स्त्रियाँ, द्रव्य कुप्य (सोना, चाँदी) योद्धा अथवा क्षत्रिय का होता है। प्रयाग प्रशस्ति भी इस बात का ज्वलंत उदाहरण है कि विजित अथवा अधीनस्थ राजाओं से मिलने वाले उपहारों (धन, राजकन्याएँ) पर भी राजा अथवा क्षत्रिय का विशेषाधिकार था। स्मृतिकार लक्ष्मीधर ने अपनी रचना कृत्यकल्पतरू (दानकाण्ड, पृ0 37) ने देवल को उद्धृत करते हुए क्षत्रियों को उपहार लेने की छूट दी है। प्रमाण मिलते है कि राजा जयचन्द्र ने 1177 ई0 और 1180 ई0 के बीच अन्तर्वेद के अनेक ग्राम वत्स गोत्र वाले राउत राजवर्मन को दिये थे (इं डि. ऐ0, 18, पृ0 137–43)

दण्ड व्यवस्था भी वर्ण के क्रमानुसार क्षत्रियों के लिए की गई है। ब्राह्मण को सबसे कम तथा शूद्र को सबसे अधिक दण्ड मिलता था। इसी सिद्धान्त के आधार पर क्षत्रियों की भी दण्ड में रियायत व्यवस्था दी गई। ब्राह्मण का अपमान करने वाले क्षत्रिय को जहाँ 100 कार्षापण अर्थदण्ड देना पड़ता था वही वैश्य को 150 कार्षापण– ''शतंक्षत्रियों ब्राह्मणों कोशे। अध्यर्थ वैश्यः।।'' (गौ0 ध0 सू0 2.3.6–7)।

आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मण के अतिरिक्त चोरी करने वाले अन्य वर्णों का वध कर देना चाहिए। वही अल्बरूनी कहता है कि चोरी के अपराध में क्षत्रियों को बिना अंधा किये ही उसका अंग काट देते थे। क्षत्रियों से निम्न वर्णो को वे चोरी के अपराध में प्राणदण्ड देते थे।

2.4.6 क्षत्रियों के आपद् धर्म

आपात् काल में क्षत्रिय अपनी जीविका के लिए अपने से नीचे वर्ण के कार्य अर्थात् वैश्य कर्म अपना सकते थे (गौ0 ध0 सू0 7.26)। वार्ता अर्थात् व्यापार, कृषि, पशुपालन अपनाया जा सकता था। इसमें स्मृतिकारों में मतैक्य नहीं है। मनु ने यहाँ क्षत्रियों के लिए कृषि कर्म की मनाही की है वही मध्यकालीन विद्वान लक्ष्मीधर ने अपनी पुस्तक कृत्यकल्पतरू में (दानकांड पृ0 37) क्षत्रियों को आपात्काल में कृषि कर्म करने की छूट दी है। उदाहरण स्वरूप राजा भोज के समकालीन क्षत्रिय पुत्र मेमाक द्वारा कृषि कर्म करते हुए उल्लेख मिलता है।

आपात् काल में क्षत्रिय मनु द्वारा (मनुस्मृति 10.86) वर्णित वस्तुओं को छोड़कर अन्य वस्तुओं का व्यापार कर सकता है। मनु एवं बौद्धायन ने सूद सम्बंधी वृत्ति अपनाने को क्षत्रिय के लिए अनुपयुक्त माना है। बौद्ध युग में वैश्यों ने अपने वैभव से समाज में एक विशेष जगह बना ली। वे गहपति कहलाये। मगध के एक सेठ ने एक भिक्षु संघ को अस्सी करोड़ काषार्पण दान दिया था।

2.4.5 वैश्यों के कर्तव्य

चातुर्वर्ण केअनुसार समाज में इनका तीसरा स्थान था। व्यापार एवं कृषि द्वारा देश एवं समाज की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने का दायित्व इन्हीं का था।

गौतम धर्मसूत्र (10.1–3) के अनुसार वैश्यों का अध्ययन, यजन और दान परम कर्त्तव्य थे। कौटिल्य ने भी इसका समर्थन किया है– नैश्यस्थस्या ध्ययनं यजनं दान (अर्थशास्त्र 3.7) अर्थात् वैश्य का प्रधान कर्म था अध्ययन करना यज्ञ करना और दान देना।

कालान्तर में वैश्य अध्ययन और यज्ञ से विरत होकर अपने को मात्र व्यापार वर्णिज्य कुसीद द्वारा धनोत्पार्जन में लग गये जिससे आर्थिक रूप से समृद्ध होने के बावजूद समाज में उनकी स्थिति शूद्र के समकक्ष हो गई। गुप्त युग में उन्हें श्रेष्ठि (शाकुन्तलम्, पृ0 19) वणिक (मालविकाग्निमित्र, 1.7) सार्थवाह (शाकुन्तलम् पृ0 219) आदि नामों से सम्बोधित किया जाने लगा। हेमचन्द्र ने अपनी पुस्तक अभिधान चिन्तामणि में इनके लिए प्रयुक्त छह शब्दों का प्रयोग किया है– अर्या, भूमिस्पर्श, वैश्य, अख्या, अरूणाः और विश्।

2.4.6 वैश्य का आपद्धर्म

वैश्य को भी आपत्तिकाल में दूसरे वर्ग के कर्म अपनाने का निर्देश दिया गया है। युद्ध–कर्म और सैनिक–वृत्ति प्रधानतः क्षत्रिय का कर्म था, किन्तु धर्मशास्त्रकारों द्वारा यह व्यवस्था दी गई थी कि गौ ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता था। मनु के अनुसार वैश्य आपातकाल में निषिद्ध कर्मो का त्याग करते हुए अर्थात् द्विजों की सेवा में जूठन आदि न खाते हुए, शूद्र की वृत्ति को अपना सकता था।

2.4.7 शूद्रों के कर्त्तव्य

विराट पुरुष के पैर से उसे उत्पन्न मानकर हिन्दू समाज में उसकी निम्नतम अवस्था की घोषणा की गई थी। ब्रह्मा ने उसे द्विज वर्णो की सेवा के लिए उत्पन्न किया था जो उसका स्वधर्म था।

2.4.8 शूद्र का आपद्धर्म

शूद्रों के लिए ब्राह्मण सेवा सर्वाधिक महत्व की बात थी। यदि ब्राह्मण की सेवा से उसकी आजीविका न चल पाये तो वे धनिक वैश्य की सेवा करते थे। यदि सेवा वृत्ति से उनकी जीविका नहीं चल जाती थी तो वे अपनी भार्या और संतान की आजीविका, व्यापार पशुपालन और विभिन्न शिल्प को ग्रहण करके चलाते थे (महाभारत)। मनु के अनुसार ऐसे में शूद्र कारूकर्म (सूप आदि बनाने का कर्म) कर सकता था। कारूकर्म की व्याख्या मेद्यातिथि ने भोजन बनाने, कपड़ा बुनने तथा बढ़ईगिरी के कार्य से भी है। स्पष्ट होता है कि आपात्काल मे ंशूद्र वैश्य कर्म अपना सकता था। इसीलिए अल्बरूनी ने वैश्यों और शूद्रों को समान श्रेणी का समझा।

2.5 सारांश

व्यक्ति द्वारा वर्णानुकूल कर्म स्वीकार करने से समाज में शान्ति, सहयोग एवं स्पर्धा हीन वातावरण का निर्माण होता है। समाज का वर्णगत विभाजन जीवन की अर्न्तनिहित चिंतन का परिणाम है जिससे प्रेरित होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण के अन्तर्गत रहकर निर्दिष्ट सामाजिक व्यवस्था का अनुपालन करना था जिससे समाज में शान्ति, सहयोग एवं स्पर्धाहीन वातावरण का निर्माण होता है। मनुष्य वर्ण–धर्म के आधार पर परिवार, समुदाय, समाज एवं देश के प्रति अपने दायित्वों का सशक्त निर्वाह करता है, जिसमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, शौच, दान आदि विभिन्न गुणों का समावेश रहता है। वह अपनी कल्याणकारी व मंगलकारी भावना से व्यक्तिगत और समाजगत व्यवहारों का निष्पादन करता है और इन्हें गतिमान करता है। मोक्षप्राप्ति का दर्शन आर्य संस्कृति जीवन का दिव्य का अद्वितीय अंग रहा है। जो परम लक्ष्य को प्रकट करता है। कालान्तर में भौतिकता या सांसारिकता से विलग यह सुख आध्यात्मिक होता है, जिसमें मोह, माया, ईर्ष्या, द्वेष व लोभ रोष का लेश भी नहीं होता। निश्चय ही समुदाय, समाज एवं देश के निर्माण तथा अभ्युत्थान में वर्णव्यवस्था का योगदान अत्यन्त गरिमापूर्ण रहा है। वस्तुतः वर्ण व्यवस्था जातिगत वर्ग और सामाजिक संरचना से सम्बद्ध हैं। जिसमें वर्ण संबंधी व्यवस्था एवं धर्म दोनों सम्मिलित हैं। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान हैं। वर्ण–व्यवस्था में दो प्रधान तत्त्व निहित हैं, एक तो भेदपरक ऊँच–नीच की भावना और दूसरे सभी वर्णों के लिए निर्धारित कर्म। चारों वर्णों के अपने–अपने कर्म वैज्ञानिक, सुविचारित आधार पर निर्धारित किये गये थे, जो समाज के व्यवस्थित विभाजन को व्यक्त करते है। इसका उद्देश्य है व्यक्ति का बहुमुखी उत्थान जो उसका गुणानुरूप कर्म से माना गया है। सभी वर्णो के मनुष्यों में समानता है। अन्तर केवल उनके गुण कर्म का है। वर्णो में विभाजन के बावजूद सभी वर्णो का अन्योन्याश्रित सम्बध भी है। वर्ण धर्म अथवा वर्ण कर्म का निष्ठापूर्वक पालन करने से व्यक्ति एवं समष्टि दोनों का उत्कर्ष होता है। व्यक्ति द्वारा वर्णानुकूल कर्म स्वीकार करने से समाज में शान्ति, सहयोग एवं स्पर्धाहीन वातावरण का निर्माण होता है। समाज का वर्णगत विभाजन जीवन की अर्न्तनिहित चिंतन का परिणाम है। जिससे प्रेरित होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण के अन्तर्गत रहकर निर्दिष्ट सामाजिक व्यवस्था का अनुपालन करना था। जिससे समाज में शान्ति, सहयोग एवं स्पर्धाहीन वातावरण का निर्माण होता है। मनुष्य वर्ण–धर्म के आधार पर परिवार, समुदाय, समाज एवं देश के प्रति अपने दायित्वों का सशक्त निर्वाह करता है, जिसमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, शौच, दान आदि विभिन्न गुणों का समावेश रहता है। वह अपनी कल्याणकारी व मंगलकारी भावना से व्यक्तिगत और समाजगत व्यवहारों का निष्पादन करता है और इन्हें गतिमान करता है। इन्हीं नैतिक और व्यावहारिक नियमों का अनुपालन करके उसे अभीष्ट या परपद/परमानंद की प्राप्ति होती है।

मोक्ष प्राप्ति का दर्शन आर्य संस्कृति जीवन का दिव्य का अद्वितीय अंग रहा है। जो परम लक्ष्य को प्रकट करता है। कालान्तर में भौतिकता या सांसारिकता से विलग यह सुख आध्यात्मिक होता है, जिसमें मोह, माया, ईर्ष्या, द्वेष व लोभ रोष का लेश भी नहीं होता। निश्चय ही समुदाय, समाज एवं देश के निर्माण तथा अभ्युत्थान में वर्णव्यवस्था का योगदान अत्यन्त गरिमामय है। कालान्तर में पुरुषार्थ चिंतन का आंकलन जब मनुष्य के जीवन में किया गया तब वर्ण व्यवस्था के स्वरूप ने नवीन दर्शन से प्रभावित होकर सामाजिक व्यवस्था को और पुष्ट किया।

2.6 बोध प्रश्न

1. भारतीय सामाजिक संरचना में वर्ण व्यवस्था की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. विभिन्न वर्णो के कर्तव्यों एवं अधिकारों का वर्णन कीजिए।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
2. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई– 3 पुरुषार्थ

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.0 उद्देश्य

3.2 पुरुषार्थ का अर्थ एवं अवधारणा

3.3 पुरुषार्थ के प्रकार

3.3.1 धर्म

3.3.2 अर्थ

3.3.3 काम

3.3.4 मोक्ष

3.4 पुरुषार्थ का महत्व

3.5 सारांश

3.6 बोध प्रश्न

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 प्रस्तावना

पुरुषार्थ से तात्पर्य मानव के लक्ष्य या उद्देश्य से है–**'पुरुषैर्थ्यते इति पुरुषार्थः।'**पुरुष + अर्थ =पुरुषार्थ का तात्पर्य विवेक सम्पन्न मनुष्य से है। अर्थात् विवेकशील मनुष्यों के लक्ष्यों की प्राप्ति ही पुरुषार्थ है। मनुष्य के लिए वेदों में चार पुरुषार्थो का नाम लिया गया है– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। चार्वाक दर्शन केवल दो ही पुरुषार्थ को मान्यता देता है– अर्थ और काम। वह धर्म और मोक्ष को नहीं मानता। महर्षि वात्स्यायन भी मनु के पुरुषार्थ चतुष्टय के समर्थक है किंतु वे मोक्ष तथा परलोक की अपेक्षा धर्म, अर्थ, काम पर आधारित सांसारिक जीवन को सर्वोपरि मानते है।

योगवसिष्ठ के अनुसार सद्जनों और शास्त्र के उपदेश के अनुसार चित्त का विचरण ही पुरुषार्थ कहलाता है। भारतीय संस्कृति में इन चारों पुरुषार्थो का विशिष्ट स्थान रहा है। वस्तुतः इन पुरुषार्थों ने ही भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का एक अद्भुत समन्वय स्थापित किया है। कुछ मनीषियों का मानना है कि धर्म, अर्थ, काम ये तीनों पुरुषार्थ का अच्छी तरह अनुपालन कर लेने से ही मोक्ष की प्राप्ति सहज हो जाती है।

3.1 उद्देश्य

पुरुषार्थ की संकल्पना, प्राचीन काल के भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से सम्मुन्नत स्तर प्रदान करने के उद्देश्य से किया। पुरुषार्थ सिद्धि मानव जीवन का परम उद्देश्य भोगों की पूर्ति है। पुरुषार्थ का उद्देश्य व्यक्ति के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच सम्बंध स्थापित करना है जिसे व्यक्ति धर्म एवं आध्यात्म तथा भौतिक वासनाओं के बीच से अपना रास्ता निकालकर अपने परम लक्ष्य की पूर्ति कर सके। अर्थ तथा काम व्यक्ति को आगे बढ़ने को प्रेरित करते है। भौतिक सुखों को भोगने के लिए उत्साहित करते है। मानव जीवन के प्रयोजन की सिद्धि जिनके द्वारा होती है–पुरुषार्थ कहलाते है। पुरुषार्थ चार हैं – धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। यह मानव शरीर सभी योनियों में इसलिए श्रेष्ठ है, क्योंकि इनकी सिद्धि इसी शरीर से सम्भव है। प्रथम तीन पुरुषार्थोंको तो प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करते है क्योंकि चतुर्थ की सिद्धि प्रथम तीन से ही मानते हैं। धर्म वह है जो अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति कराये। अभ्युदय इस लोक में उन्नति की बात करता है तो निःश्रेयस पारलौकिक उन्नति की। अतः धर्म दोनों लोकों में कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। अर्थ से तात्पर्य धनादि द्रव्य से है जिसके बिना न धर्म की प्राप्ति सम्भव है, न कामनाओं की पूर्ति। विविध इच्छाओं, कामनाओं को काम की संज्ञा दी जाती है, जिसके बिना भी यह जीवन पूर्ण नहीं होता। मोक्ष का तात्पर्य मुक्ति से है। अधिकांशतः यह माना जाता है कि यह मृत्यु के बाद की स्थिति है, पर ऐसा है नहीं। वस्तुतः सांसारिक प्रपंचों से मुक्ति ही मोक्ष है।

3.2 पुरुषार्थ का अर्थ एवं अवधारणा

पुरुषार्थ की संकल्पना, प्राचीन काल के भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से समुन्नत स्तर प्रदान करने के उद्देश्य से किया। जीवन के सुख के दो महत्वपूर्ण आधार–पहला भौतिक तथा दूसरा आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में देखा गया। भौतिक सुख क्षणिक और अस्थिर है तथा आध्यात्मिक सुख स्थायी एवं परमानन्द है। इन दोनों विचारधाराओं का जीवन के उत्थान में कितना योगदान है, यह विचारणीय है। हिन्दू विचारकों के अनुसार मानव जीवन में भोग ही बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं, बल्कि उसका संयम, नियम, आदर्श आध्यात्मिक विचार भी सर्वोत्कृष्ट परिणति है। कार्य–पद्धतियाँ विलासपरक न होकर धर्मपरक होनी चाहिए। आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य को सात्विक और निःस्वार्थ जीवन जीने के लिए प्रेरित करती है और उसे ऐसे जीवन दर्शन का वास्तविक और अविच्छिन्न अर्थ समझती हैं, जिसमें सांसारिकता के साथ–साथ आध्यात्मिकता भी है, भोग के साथ–साथ योग भी है तथा कामना के साथ–साथ साधना भी है। अतः भारतीय जीवन – दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों का संतुलित एवं

समन्वित स्वरूप है जिसे पुरुषार्थ कहते है। भौतिक सुख के अन्तर्गत अर्थ और काम; आध्यात्मिक सुख के अन्तर्गत धर्म और मोक्ष। पुरुषार्थ के आवरण में मनुष्य लौकिक उपभोग के साथ धर्म का पालन करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। जो मनुष्य के जीवन की सार्थकता एवं चरम लक्ष्य है। हिन्दू मान्यता अपेक्षाकृत आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक लक्ष्य को अधिक महत्व देती है तथा मनुष्य के दीर्घ जीवन को ध्यान में रखते हुए आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत पुरुषार्थ को कर्त्तव्यनिष्ठा का सार्थक दायित्व स्वीकार करती है। इससे मनुष्य के साथ ही साथ समाज का भी उत्कर्ष होता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–मनुष्य के चार पुरुषार्थ अर्थात् चतुवर्ग मान गये। बाद में चलकर मोक्ष को अन्तिम मानकर तीन पुरुषार्थो (धर्म, अर्थ और काम) पर ही बल दिया गया, जो त्रिवर्ग कहलाया। धर्म, अर्थ और काम तीनों एक साथ जीवन में अनुसरित किये जा सकते है। धर्म प्रवण कार्यो से अर्थ और काम की प्राप्ति विशुद्ध और सात्विक होती है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का उत्कर्ष एवं भौतिक जीवन के प्रति क्रमशः अनास्था पुरुषार्थ के बिना असंभव है। धर्म मनुष्य को सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराता है, जो असत् अथवा पाशविक और सत् अथवा दैवी प्रकृति के मध्य का सेतु है। धर्म के माध्यम से मनुष्य नैतिक सिद्धान्तों, विवेकशील प्रवृत्तियों तथा न्यायप्रधान क्रियाओं को सही रूप में समझकर उनके अनुपालन में समर्थ होता है। महाभारत के अनुसार धर्म वही है जिससे किसी दूसरे को कष्ट न पहुँचे बल्कि लाभ हो।

महाभारत (वनपर्व) के अनुसार जो धर्म का मात्र अपने लिये ही अंधानुकरण करता है, वह अन्धे के समान सूर्य की प्रभा से अछूता रहता है। अर्थ मनुष्य की संतुष्टि और विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की उसकी उत्कण्ठा व्यक्त करता है। प्राचीन कालीन भारतीय मनीषियों ने मनुष्य द्वारा धनार्जन की प्रवृत्ति को पुरुषार्थ में रेखांकित करके मानव मन की सहज आकांक्षाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। भौतिक सुखों के लिए अर्थोपार्जन आवश्यक है। किन्तु उसके साथ दान भी आवश्यक है। काम मानव जीवन की सुखद और सहज अनुभूति से सम्बद्ध है। विवाह और सन्तानोत्पत्ति इसी के आधार पर सम्भव है। यौन भावना के साथ सौन्दर्यानुभूति की तुष्टि काम के माध्यम से ही होती है। महाभारत के अनुसार द्रव्य–अर्थ की संवृद्धि से होने वाला आनंद भी काम कहा गया (वनपर्व, 30) काम मन हृदय का वह सुख है जो इन्द्रियों से निःसृत है। इसका स्थान त्रिवर्ग में सबसे बाद में है। मनुष्य के कामोपभोग की भावना को निश्चित सीमा तक ही स्वीकार किया गया है। इसलिए उच्च आदर्श एवं नैतिक कर्तव्य की नियोजना की गई। काम और अर्थ को साधन स्वीकार किया गया है न कि साध्य। मोक्ष की प्राप्ति सभी लोगों के लिये नहीं हो पाती। इसीलिए त्रिवर्ग के अनुपालन का निर्देश दिया गया था। मोक्ष का सम्बंध आत्मा और परमात्मा से है। मन एवं मस्तिष्क की शुद्धता

अनिवार्य मानी गई है। जब मनुष्य पूर्णरूपेण प्रवृत्ति से निवृत्ति में समन्वय स्थापित कर लेता है, तब वह समस्त बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। वह चारों पुरुषार्थो के अन्तर, महत्व और गरिमा को समझने लगता है– यही विवेक उसके व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास करता है।

3.3 पुरुषार्थ के प्रकार

पुरुषार्थ के अवधारणात्मक विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दू जीवन दर्शन के चार स्तम्भ हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसमें धार्मिक (नैतिक) भौतिक (सांसारिक) तथा आध्यात्मिक (ईश्वरीय) तत्वों का निवेश है।

3.3.1 धर्म

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनामात्मन स्तुष्टिरेव च।।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः

एतच्चतुविधं प्राहुः साक्षाद्वर्भस्य लक्षणम्।। (मनुस्मृति 2.6.12)

अर्थात् धर्म के आधार–स्रोत श्रुति (वेद) स्मृति (धर्मशास्त्र) सदाचार एवं आत्मतुष्टि है, जो धर्म के साक्षात् चार लक्षण है। वसिष्ठ ने मत व्यक्त किया है कि मनुष्य के सदाचार से अधिक महत्वपूर्ण वेद और स्मृतियाँ है–**श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः तद् लाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।** शिष्ट पुनरकामात्मा। निश्चय ही धर्म नैतिक आचरणों का अधिक महत्व देता है, किन्तु परम्परा से चली आती हुई धर्मशास्त्रीय व्यवस्था को भी स्वीकार करता है। सदाचार से सत्यता, हितकर प्रथाएं, आचरण नैतिक व्यवहार के सम्मिलित होने के कारण धर्म का क्षेत्र अत्यन्त प्रशस्त हो जाता है। जिसमें शुचिता, सत्यता, दया, अनसूया, शुमता के प्रति प्रवृत्ति दानशीलता, सम्यक श्रम और लोभ हीनता सम्मिलित है।

3.3.2 धर्म के विभेद

हिन्दू विचारकों ने सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत धर्म के कई विभेद किये हैं। विशिष्ट धर्म से सम्बंधित देश–धर्म, जाति–धर्म और कुल– धर्म (देशजाति कुलानां धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन–महाभारत, शांतिपर्व 104.20) के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने कई प्रकार के अन्य स्मार्त धर्मों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा (1.1) के अनुसार वर्ग धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म और नैमित्तिक धर्म हैं। साधारण धर्म मनुष्य के मानवता युक्त नैतिक धर्म से सम्बंधित है। जो सभी के लिये है। सभी धर्मो का लक्ष्य एक ही था, मुक्ति प्राप्त करना। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये मनुष्य के सद्गुणों का विकास करना भी आवश्यक

था। श्रीमद्भागवत के अनुसार सामान्य धर्म के 36 लक्षण बताये गये हैं– सत्य, तप, शुचिता, दया, कष्ट–सहिष्णुता, नीर–क्षीर–विवेक, मन पर नियंत्रण, इन्द्रिय संयम, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, स्वाध्याय, संतोष सरलता, सम्यक दृष्टि, सेवा, क्रमशः सांसारिक त्याग, लौकिक सुख के प्रति उदासीनता, मौन, आत्मचिंतन, सभी प्राणियों में अपने आराध्य का दर्शन और उन्हें अन्न देना, श्रेष्ठ पुरुषों का संग, ईश्वर का गुण–गान, ईश्वर – चिंतन ईश्वर सेवा, पूजा और यज्ञ का अनुसरण, ईश्वर के प्रति दास–भाव ईश्वर – वन्दना सखा–भाव और ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण। साधारणतः सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, क्षमा, शुश्रुषा, शील, मधुर, वचन, शरणागत रक्षा, अतिथि सेवा आदि मनुष्य के साधारण धर्म कहे गये है।

महाभारत (74.105) के अनुसार **'नास्ति सत्यसमो धर्मो च सत्याद् विद्यते परम्'** अर्थात् सत्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं। सभी वस्तुओं का आधार सत्य है जो समृद्धि कारक है। वेदों में भी कहा गया कि **'सत्यम् वद धर्मम् चर'** अर्थात् सत्य, वेदों और धर्म का आचरण करो। सत्य के कई स्वरूप हैं जैसे– दान, ध्यान, सहिष्णुता, लज्जा, धृति, दया, अहिंसा, निष्पक्षता, लज्जा, इन्द्रियनिग्रह, सहर्ष कष्ट सहना, विवेक आदि माना गया है।

इन्द्रिय निग्रह द्वारा ब्रह्म के मार्ग का अनुसरण करना ही ब्रह्मचर्य है। तपश्चर्या, अनुशासन एवं उच्च मार्ग का अनुसरण ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आता है। जिससे मनुष्य मन शरीर से श्रेष्ठ होता है। अहिंसा परम धर्म कहा गया है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को चोट न पहुँचाना ही मनुष्य का उत्तम कार्य माना गया है। क्षमा, श्रद्धा, मधुर वचन, शील, अतिथि सेवा, वर्णाश्रम धर्म, राजधर्म, कुलधर्म, युग धर्म, स्वधर्म तथा आपद्धर्म का पालन करना चाहिए।

आपद् धर्म–शास्त्रकारों ने विपत्ति और विपरीत परिस्थितियों में व्यक्ति को आपद् धर्म अपनाने का निर्देश दिया है। मनु के अनुसार एक वर्ण के सदस्य आपत्तिकाल में दूसरे वर्ण के धर्म को अपना सकते थे।

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।

प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्विपात्प्रतिमुच्यते।।

अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय का, क्षत्रिय वैश्य का और वैश्य शूद्र का धर्म अपना सकता था। इस प्रकार राजा भी आपत्तिकाल में विभिन्न प्रकार के कर ग्रहण कर सकता था। ऐसी स्थिति में व्यक्ति विशेष धर्म को छोड़कर साधारण धर्म का पालन करता था, जिससे आपत्ति के समय भी वह धर्मयुक्त रह सके।

3.4 अर्थ

पुरुषार्थ में धर्म के पश्चात् अर्थ का महत्व है। इसका सम्बंध धन–सम्पत्ति के अतिरिक्त भौतिक उपकरण और सुख से भी है। वस्तुतः अर्थ से तात्पर्य उन सभी

उपकरणों या भौतिक साधनों से है, जो व्यक्ति को समस्त सांसारिक सुख उपलब्ध कराते है तथा तत्सम्बंधी सभी जरूरतों और साधनों को पूरा करते हैं और मनुष्य की भौतिक इच्छाएं अर्थ के माध्यम से ही पूरी होती है। इसके अलावा मनुष्य ने अपने जीवन में अनेक प्रकार के कर्तव्य और उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। यह 'अर्थ उपार्जन' धर्म के माध्यम से ही करने के लिए निर्देशित किया गया है। यहॉ तक कि ऋग्वैदिक युग के आर्य भी भौतिक सुखों के प्रति जागरूक थे। धन–सम्पत्ति, गाय–अश्व इत्यादि की वृद्धि के लिए वे ईश्वर से प्रार्थना करते थे। प्रसंग मिलता है कि जब याज्ञवल्क्य राजा जनक के यहाँ पहुँचे तब जनक ने उनसे पूछा कि आपको धन और पशु अथवा शास्त्रार्थ और विजय चाहिए? याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा कि दोनों चाहिए। निश्चय ही महाभारत के उद्योगपर्व (72.23.4) का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है–

धनमाहु परं धर्म धने सर्वप्रतिष्ठितम्।

जीवन्ति धनिनो लोके मृता यत्वधना नराः।।

ये धनादपकर्षन्ति नरं स्वबलम् स्थिताः।

ते धर्मार्थकामं च प्रमध्नन्तिं नरं च तम्।।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु अर्थ पर निर्भर करती है। अर्थ सम्पन्न लोग सुख से रह सकते है। अर्थहीन लोग मृत समान है। किसी एक के धन का क्षय करते हुए उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है। धन को काम और धर्म का आधार माना गया है इससे स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। पुनश्च **'प्राणयात्रापि लोकस्य बिना ह्यर्थ न सिध्यति'** अर्थात् अर्थ के बिना जीवन यापन असंभव है। बृहस्पति सूत्र (6.7–12) के अनुसार अर्थसम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण, क्या नहीं होता। कौटिल्य के अनुसार (अर्थशास्त्र 1.70.10.11) **'अर्थ एवं प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थ मूलो हि धर्मकामाविति'**अर्थात्, अर्थ, धर्म जितना ही महत्वपूर्ण है तथा यह धर्म और काम का आधार माना है। नीतिशतक (39) के अनुसार जीवन के प्रधान साधन स्वरूप अर्थ को किसी भी स्थिति में जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। पुनः

''यस्यास्ति वित्त स नरः कुलीन।

स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः।।''

स एव वक्ता स च दर्शनीयः।

सर्वे गुणाः कांचनमा श्रयन्ति।।

अर्थात् धनी व्यक्ति कुलीन पण्डित वेदज्ञ, वक्ता, दर्शनीय माना जाता है। धन में सभी गुण समाहित हो जाते है। आपस्तम्ब ने भी मनुष्य को धर्मानुकूल सभी सुखों

का उपभोग करने के लिए निर्दिष्ट किया है (आ0 ध0 सू0 2.8.20, 22–23)। मनु के अनुसार भी त्रिवर्ग ही श्रेय है, जिसमें अर्थ की अपनी विशेष महत्ता है। (मनु0 2. 224)। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य के जीवन में अर्थ का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। किंतु अर्थ के निमित्त किये जाने वाले प्रयास में धर्म की संस्तुति अवश्य होनी चाहिए।

3.5 काम

पुरुषार्थ में काम का तीसरा स्थान है। मनुष्य की समस्त कामनाएं, वासनाजन्य प्रवृत्तियाँ तथा आसक्ति मूलक वृत्तियाँ काम के अन्तर्गत आती है। अतः काम मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है, जो उसके इन्द्रिय–सुख से सम्बद्ध है। इसी के वशीभूत होकर व्यक्ति एक दूसरे से प्रेम और सम्भोग करता है। इसी के वशीभूत वह पत्नी एवं संतान की कामना करता है। तथा वह सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है। काम में कामना और वासना दोनों का निवेशन है दोनों मनुष्य की सहज स्थितियाँ है। पितृ ऋण से मुक्ति काम के ही कारण है। मन और मस्तिष्क की इच्छाएं एवं उनकी पुष्टि कामजन्य हो जाती है। महाभारत (शांतिपर्व, 133.10) के अनुसार–**''सम्प्रमोदमल कामोभूयः स्वगुण वर्जितः''** अर्थात् सम्प्रमोद (आनन्द) में पूर्णतः लिप्त रहना ही काम है। किन्तु इसका अतिरेक दुगुर्ण की श्रेणी में आता है।

कौटिल्य ने काम को अन्तिम श्रेणी में रखा है तथा मनु ने तमोगुण लक्षण वाला माना है। किंतु महाभारत (शान्ति पर्व), के अनुसार काम धर्म का सार माना गया है तथा धर्म और अर्थ से उसे विशिष्ट कहा गया है। धर्म और अर्थ का स्रोत काम को माना गया है। इस प्रकार काम का पुरुषार्थ में उत्कृष्ट स्थान दीखता है। प्राचीन विचारकों के अनुसार व्यक्ति की समस्त अन्तर्वृत्तियाँ काम से संचालित होती है। काम के तीन आधार पाये जाते है– जैविकीय, सामाजिक और धार्मिक। व्यक्ति अपनी इच्छाओं की संतुष्टि जैविकीय आधार पर करता है। इच्छाओं की पुष्टि न होने पर मनुष्य में ग्रंथियों, तनाव, आक्रोश क्रोध उत्पन्न होता है तथा निराशा की अभिव्यक्ति होती है, जिससे मनुष्य का विकास अवरूद्ध हो जाता है। अतः इच्छाओं की तुष्टि जैविकीय आधार पर ही संभव है। काम के सामाजिक आधार पर विवाह के माध्यम से पति–पत्नी के सम्बंध तथा प्रजनन के माध्यम से परिवारिक और सामाजिक निरन्तरता बनी रहती है। प्रेम, स्नेह, अनुराग, सौन्दर्यप्रियता से मनुष्य के मन और मस्तिष्क में कोमल भावनाएँ उठती हैं। जिससे उसका व्यक्तित्व निखरता है और वह अपने सामाजिक दायित्व की ओर उन्मुख होता है। काम का धार्मिक आधार व्यक्ति को उसकी इन्द्रिय–संतुष्टि और अदम्य इच्छाओं से विरत करता है तथा वह आत्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होकर धार्मिक होता है। व्यक्ति का प्रेम, स्नेह, अनुराग और आकर्षण उच्चतर अवस्था में पहुँचता है, जहाँ वह ईश्वर के प्रति आकृष्ट होता है, जो मोक्ष का मार्ग होता है।

काम को मात्र यौन–सुख मानने पर इसकी कटु आलोचनाएँ हुई है। काम–तृप्ति में व्यवधान पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है, जो अविवेक का प्रतिरूप है। मोह से स्मृति भ्रम, स्मृति भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वनाश होता है (गीता, 2.62–63)। अतः यह उचित समझा गया कि काम–वासना को धर्म या सदा चरण या आध्यात्मिक रूप में रखा जाए।

जीवन को सुगम और सुस्थिर करने के लिए धर्म–संवलित काम की अपेक्षा भारतीय चिंतकों ने की है। अव्यवस्थित और अस्थिर काम परिवार और समाज के लिए विघ्नकारी और निन्दनीय रहा है। काम की अतिवादिता को रोकने के लिए धर्म का अंकुश लगाया गया जिससे मानव अपने जीवन में नैतिकता सदाचारित और शुद्धता का निर्माण कर सके।

3.3.4 मोक्ष

मोक्ष यानि जीवन से मुक्ति पाने की स्थिति है। यह **मुक्** धातु से व्युत्पन्न है जिसका अभिप्राय है मुक्त करना। मनुष्य के जीवन का अंतिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना होता है। सांख्यशास्त्रियों के अनुसार, व्यक्ति पूर्णरूपेण अकर्ता, अनजाना और अनभिज्ञ है। ऐसी स्थिति में क्रियाओं का कर्ता पुरुष न होकर प्रकृति है। मनुष्य की बुद्धि और मन प्रकृति से संचालित होते है। यह प्रकृति माया है जो मनुष्य को आवृत्त करती है जब मनुष्य को सात्विक ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। तब उसपर से माया का आवरण हट जाता है और उसकी कैवल्य की स्थिति हो जाती है। यही प्रकृति मनुष्य को मुक्ति प्रदान करती है। यही प्रकृति और पुरुष का सम्बंध है। वस्तुतः प्रकृति और पुरुष के परस्पर सम्बंध से ही सम्पूर्ण जगत की स्थिति है। मनुष्य जब प्रकृति की शोभा और सुन्दरता से आकर्षित होकर मोहबद्ध हो जाता है तब वह प्रकृति की स्वाभाविकता को नहीं पहचान पाता। इस अज्ञानता के कारण वह जगत के आवागमन के चक्कर में ग्रस्त रहता है। जो धार्मिक तथा आध्यात्मिक होकर, ज्ञानमय होकर इस अंतर को जानकर व्यवहार करता है वह तादात्म्य स्थापित करता और कैवल्य प्राप्त करता है। प्रकार क्षेत्र (जड़) और क्षेत्रज्ञ (चेतन) के भेद को तथा विकार युक्त प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान–नेत्रों द्वारा तत्व से जानता है। वह महात्मा परम ब्रह्म को प्राप्त करता है। ब्रह्म अथवा परमात्मा से आत्मा का सम्मिलन ही मोक्ष है।

मोक्ष प्राप्ति के तीन प्रमुख आधार है– कर्म, ज्ञान और भक्ति। शास्त्रकारों ने यह माना है कि मनुष्य वर्णा श्रम द्वारा निर्धारित सामाजिक और धार्मिक कर्मो का निष्ठापूर्वक सम्पादन करने के पश्चात् मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है। अपने विभिन्न कर्त्तव्यों को वह बिना फल की आकांक्षा किये करता है। अतः अनासक्ति की भावना उसमें रहती है। इसी कर्म मार्ग से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मनुस्मृति (6.35) के

अनुसार तीनों ऋणों (देवऋण, ऋषि ऋण और पितृऋण) को पूरा करके ही व्यक्ति को अपनेमन को मोक्ष में लगाना चाहिए। इन ऋणों का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है। पुराणों में उल्लेख मिलता है कि मोक्ष – प्राप्ति के लिये यतिधर्म का अनुपालन करते हुए मित्रज्योति के पुत्रों ने अपने को ब्रह्म में लीन किया था। 'यतिधर्मवाप्येह ब्रह्मभूयाय ते गताः'(ब्रह्माण्डपुराण, 3.68 5.6 वायु पुराण 93.56)।

बुद्धिजीवी, विचारवान मनुष्य ज्ञान और विचार के संदर्भ में ईश्वर के अव्यक्त और निराकार भाव के प्रति अपने को अनुरक्त करके ब्रह्मशक्ति से एकाकार होने का प्रयास करता। कर्म एवं ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने के लिए भक्ति भावना भी की जाती थी। गीता में भक्ति को अपेक्षाकृत श्रेयस्कर माना गया है। इसमें मनुष्य ब्रह्म के सगुण रूप की परिकल्पना करके उपासना करता है और अपने को पूर्णरूपेण ब्रह्म की सेवा में समर्पित कर देता है। ब्रह्म ही जीव का सब कुछ हो जाता है– स्वामी गुरू, माता पिता, सखा आदि।वह भक्ति में डूब जाता है। फल की कामना न करते हुए, समस्त इच्छाओं को त्याग कर अपने को ईश्वर के प्रति उत्सर्ग करता है।

3.4 पुरुषार्थ का महत्व

मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष पुरुषार्थ– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से ही सम्भव रहा है। व्यक्ति अपने विभिन्न कर्मो का सम्पादन पुरुषार्थ के ही संयोग से करता है तथा इसी के माध्यम से अपने विविध उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्ण कर सकने में समर्थ होता है। संयम एवं अनुशासित जीवन उसके कर्तव्यनिष्ठ पुरुषार्थ का ही प्रमाण है। चारों पुरुषार्थ एक दूसरे से अन्तर्सम्बंधित है। व्यक्ति का सामाजिक धार्मिक, आध्यात्मिक और आर्थिक उत्कर्ष पुरुषार्थ की सम्पन्नता से ही होता है। इसके पालन से उसका सर्वागीण विकास होता है, परिणाम स्वरूप उसका परम लक्ष्य (मोक्ष) उसके निकट आता है।

पुरुषार्थ भारतीय जीवन दर्शन का अनुपम पक्ष है। इसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है तो मुक्ति भी है, कामना है तो साधना भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है। पाश्चात्य जीवन–दर्शन में तो भौतिकता और सांसारिकता के अतिरिक्त आध्यात्मिकता लेशमात्र भी नहीं है। किन्तु हिन्दू जीवन–दर्शन में तो भौतिकता और सांसारिकता के अतिरिक्त आध्यात्मिकता भी है। इसीलिए पुरुषार्थ मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी और लाभप्रद माना गया है। नियम और संयम पूर्वक पुरुषार्थ का सम्पादन उसकी व्यापकता और महत्ता को दर्शाता है। लौकिक और पार लौकिक जीवन के अन्तर को पुरुषार्थ द्वारा ही कम दिया जाता है। मनुष्य द्वारा अपने कर्त्तव्यों का सम्पादन और परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति का प्रदर्शन का पानापुरुषार्थ के अनुपालन के बिना सम्भव ही नहीं था। इसीलिए पुरुषार्थो में काम

और अर्थ साधन स्वरूप है तथा धर्म एवं मोक्ष साध्य स्वरूप। इनमें धर्म की सर्वोच्च स्थिति है तथा बिना धर्म के कोई भी कर्तव्य पालित नहीं किया जा सकता। धार्मिक कृत्य व्यक्ति को अध्यात्म की ओर प्रेरित करते हैं। क्रमशः जब वह पूर्णतः आध्यात्मिक हो जाता है, तब चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

वस्तुतः पुरुषार्थ की नियोजना व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित और संतुलित आधार पर विकसित करने हेतु की गई थी। पुरुषार्थ का पालन करते हुए उसके द्वारा ऊँचे आदर्शो की प्रतिष्ठा की गई थी। यह एक मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से अर्थ और काम के प्रति अधिक जागरूक रहता है। अतः इन दोनों के प्रति मनुष्य की होने वाली स्वाभाविक उत्कण्ठा पर अंकुश लगाने के निमित्त धर्म की व्यवस्था की गई। यदि आज भी नियम संयम का पालन न किया जाए तो समाज में अर्थ और काम के लिए घोर संघर्षः छिड़ जाए और मनुष्य पाश्चात्य सभ्यता के पदचिन्हों पर अग्रसर हो चले। इसी प्रवृत्ति पर धर्म अंकुश का कार्य करता है। इस प्रकार प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने मनोविश्लेषणात्मक और समाजशास्त्रीय आधार पर पुरुषार्थ के दर्शन का प्रतिपादन किया। न जाने कितने व्यतिक्रमों के बावजूद हिन्दू जीवन दर्शन की यह परम्परा आज भी किसी–न–किसी रूप में प्रवाहमान है।

3.5 सारांश

वस्तुतः पुरूषार्थ की नियोजना व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित और संतुलित आधार पर विकसित करने हेतु की गई थी। पुरूषार्थ का पालन करते हुए उसके द्वारा ऊँचे आदर्शो की प्रतिष्ठा की गई थी। यह एक मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से अर्थ और काम के प्रति अधिक जागरूक रहता है। अतः इन दोनों के प्रति मनुष्य की होने वाली स्वाभाविक उत्कण्ठा पर अंकुश लगाने के निमित्त धर्म की व्यवस्था की गई। यदि आज भी नियम संयम का पालन न किया जाए तो समाज में अर्थ और काम के लिए घोर संघर्षः छिड़ जाए और मनुष्य पाश्चात्य सभ्यता के पदचिन्हों पर अग्रसर हो चले। इसी प्रवृत्ति पर धर्म अंकुश का कार्य करता है। इस प्रकार प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने मनोविश्लेषणात्मक और समाजशास्त्रीय आधार पर पुरूषार्थ के दर्शन का प्रतिपादन किया। न जाने कितने व्यक्तिओं के बावजूद हिन्दू जीवन दर्शन की यह परम्परा आज भी किसी–न–किसी रूप में प्रवाहमान है।

3.6 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय सामाजिक सरंचना में पुरूषार्थ चतुष्टय के महत्व का वर्णन करें।
2. पुरूषार्थ के महत्व पर टिप्पणी लिखें।

3. मोक्ष की अवधारणा पर टिप्पणी लिखें।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास

2. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई 4 जाति व्यवस्था, प्रकृति, उत्त्पत्ति एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 जाति व्यवस्था की प्रकृति

4.3 जाति प्रथा की विशेषताएं

4.4 जाति प्रथा के उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त

4.4.1 दैवी सिद्धान्त

4.4.2 ब्राह्मणवादी सिद्धान्त

4.4.3 धार्मिक सिद्धान्त

4.4.4 व्यवसायिक सिद्धान्त अथवा उद्विकासीय सिद्धान्त

4.4.5 प्रजातीय सिद्धान्त

4.5 जाति प्रथा का विकास

4.5.1 पंचजन

4.5.2 जाति भेद का विकास

4.5.3 मौर्य युग

4.5.4 गुप्त काल तथा गुप्तोत्तर काल

4.6 सारांश

4.7 बोध प्रश्न

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 प्रस्तावना

भारतीय जाति व्यवस्था हिन्दू संगठन का एक विशिष्ट रूप है जो हिन्दू समाज को अनेक समूहों में विभक्त करता है। इन जातियों के रहन–सहन, स्तर, व्यवहार और आचरण में सम्यक् अन्तर है। आज भारत में 3000 से भी अधिक जातियॉ और उपजातियौं विभिन्न समूहों में देखी जा सकती है। व्यक्ति पर जाति का प्रभाव और नियन्त्रण जन्म से लेकर मृत्यु तक अनवरत बना रहता है। व्यक्ति का विकास, शिक्षा, विवाह, खान–पान, पारस्परिक सम्बंध, व्यावसाय आदि जाति के

योगदान पर ही निर्भर करता है। अतः उद्देश्यपूर्ण व्यवस्थाओं और नियमों को कार्यान्वित किये जाने से सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण होता है जिससे जाति व्यवस्था स्थिरत–होती है।

4.1 उद्देश्य

भारतीय मनीषियों ने मानव–समाज को चार वर्गों या वर्णों में तथा मानव–जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था। ये वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र थे तथा चार आश्रम क्रमशः – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास थे। इन चारों वर्णो के निर्धारित कर्म अथवा पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) क्रमशः अलग – अलग आश्रमों में निष्पादित किये जाते थे। राजसंस्थाओं का भी यह कर्त्तव्य था कि वह सबको अपने–अपने स्वधर्म में स्थिर रखे इसी में सबका कल्याण है। परन्तु धर्मशास्त्रकारों द्वारा निर्धारित वर्णाश्रम तथा पुरुषार्थ सम्बंधी प्रतिमानों का सवर्था पालन किया गया हो – व्यवहार में ऐसा प्रतीत नहीं होता।

ऋग्वैदिक काल से ही द्विवर्णीय व्यवस्था में आर्य एवं आर्येतर (दास या दस्यु) के मध्य अन्तरंग संम्बध भी स्थापित हुए। साथ ही गकालान्तर में अन्र्त जातीय विवाह के परिणाम स्वरूप अनेक वर्ण संकरों का अस्तित्व में आना तत्कालीन सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हुए एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में हम पाते है। साथ ही आपद् धर्म पालन के प्रतिफलन सामाजिक गठन में आये सूक्ष्म परिवर्तनों को भी नकारा नहीं जा सकता। क्योंकि आपद्धर्म के पालन में आर्थिकोपार्जन सामाजिक व्यवस्था पर भी अपना प्रभाव अवश्य छोड़ता है। साथ ही समय–समय पर भारत में आये विदेशी आक्रान्ताओं को भारतीय करण तो हुआ, किन्तु इन जातियों को चातुर्वर्ण के किस वर्ण में सम्मिलित किया जाए– इस पर स्मृतिकारों ने कुछ स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किये। प्रोफे0 विजय नाथ के अनुसार गुप्तोत्तर काल सामन्ती व्यवस्था के अर्न्तगत व्यापक मात्रा में भूदान, ग्राम–दान हुए, जिसके प्रतिफलन परिधीय क्षेत्रों के जन जातियों के मुख्यधारा में सम्मिलित किये जाने से भी जातियों को प्रगुणन हुआ। (अध्यक्षीय भाषण, IHC-Sec. I, भोपाल, 2001)

भारत में जब आर्य लोग जनपद स्थापित कर रहे थे, तब सम्भव हो कि कर्म के आधार पर अथवा वंशानुगत होने पर जन्म के आधार पर जनपद के निवासियों को चार वर्णो में विभक्त किया जा सका हो, किन्तु जब जनपद–महाजनपदों के रूप में विकसित होने लगे तथा साम्राज्य विस्तार किया जा रहा हो और निवासियों द्वारा स्वयं को श्रेणीबद्ध किया गया और तब समाज को चार वर्णो में विभक्त कर सकना संभव नहीं रह गया। तभी से जातिभेद प्रकाश में आया, जो आज भी भारतीय समाज की विशेषता है। वर्ण और जाति के इस भेद को समझे बिना प्राचीन भारतीय समाज के स्वरूप को समझ सकना संभव नहीं है। यही इस इकाई की

उपादेयता है।

4.2 जाति व्यवस्था की प्रकृति

'जाति' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की जन् धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म अथवा भेद से लिया जा सकता है। अंग्रेजी में जाति के लिए कास्ट शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो पुर्तगाली शब्द 'कास्टा' से बना है, जिसका अर्थ है– नस्ल, प्रजाति और जन्म। कास्ट को अधिकतर लैटिन शब्द कास्टस से भी व्युत्पन्न माना जाता है जिसका तात्पर्य प्रजाति या जन्म पर आधारित माना जाता है।

ख्यात समाजशास्त्रियों ने इसे अलग–अलग ढंग से परिभाषित किया है। उनके अनुसार जाति–प्रथा जन्म से प्रभावित और वर्गगत ढॉचे पर आधारित ऐसी प्रथा है, जिसमें आबद्धता भी है और गतिशीलता थी। यद्यपि हरबर्ट रिजले द्वारा यह कहा गया कि यह कुटुम्बों का समवेत रूप है, जो साधारण नाम के साथ एक काल्पनिक पूर्वज, मनुष्य या देवता, एक सामान्य वंश परम्परा या उसके उद्भव का दावा करते हैं। ऐसे समान परम्परागत व्यवसाय करते रहने पर बल देते है जो सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते हैं (द पीपुल ऑफ इण्डिया, पृ0 5) किन्तु इसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें गोत्र और जाति को मिला दिया गया है। क्योंकि काल्पनिक पूर्वज से वंश – परंपरा या उन्नति का दावा गोत्र के लोग करते है, न कि जाति के लोग। पाश्चात्य लेखकों ने ब्रह्मा के मुख से वर्णो की उत्पत्ति की संकल्पना को जाति के अन्तर्गत रखी। किंतु ऐसी विभिन्न जातियाँ समाज में बनी, वे अपनी उत्पत्ति देवता से नहीं मानती। इसके अतिरिक्त जाति का समुदाय के रूप में प्रयुक्त किया जाना आधार संगत नहीं लगता, क्योंकि समुदाय एक निश्चित भू–भाग में विश्वास रखता है। किन्तु जाति का समुदाय से सम्बंध नहीं, वे विभिन्न देशों में निवास करते हुए मिल सकते हैं।

जाति को अन्तर्विवाही समूह या अर्न्तविवाही समूहों का सम्मिलित रूप भी कहा गया है, जिसकी सदस्यता वंशानुगत मानी गई है। निश्चय ही जाति–प्रथा समाज के विभिन्न समूहों में बँटी रहती है, जो विभिन्न विचारों के साथ परस्पर विरोधी अनेक गुटों में विभाजित होकर वंशानुगत होती है और संस्तरण के आधार पर क्रमागत होती है। इसमें रक्त–संकरता और व्यवसाय–परिवर्तन नहीं ग्रहीत किये जाते। साथ ही इसमें नये सदस्यों को भी नहीं स्वीकार किया जाता।

(डूमा और पोकाक, कन्ट्रिब्यूशंस टू इंडियन सोशियोलॉजी, पृ0 8–9)

डूमा की उपरोक्त व्याख्या से जाति प्रथा के तीन प्रमुख तत्त्व दिखते हैं–

1. जाति– व्यवस्था की विभिन्न जातियाँ एक – दूसरे की विरोधी होती है जिसके कारण वे अलग–अलग बनी रहती है।

2. इसमें जन्म की प्रधानता देते हुए व्यवसाय, रक्त, विवाह आदि की अपनी विशेषता परिलक्षित की जाती है जिससे प्रत्येक जाति एक दूसरे से पृथक रहती है।

3. ये जातियाँ अपने कुछ विशेष अधिकारों के कारक ऊँच – नीच की भावना से ग्रस्त रहती है।

जाति की सदस्यता उन्ही व्यक्तियों तक सीमित रहती है जिसमें उसका जंग होता है, और दूसरे इसके सदस्य अनिवार्य सामाजिक नियम के कारण दूसरे समूह में विवाह करने से अवरूद्ध भर दिये जाते है। ये दोनों उनके सही स्वरूप का मान नहीं कराती। वास्तविकता यह है कि जाति प्रथा में गतिशीलता है जो उसके विस्तार के व्यक्त करती है।

इस प्रकार जाति के अन्तर्गत जन्म का प्रमुख आधार तो रहा ही है, साथ ही दूसरी जाति के लिए खान–पान, व्यवसाय, विवाह, सम्मिलन, सहवास आदि पर प्रतिबन्ध भी रहा है, जो उसकी सांस्कृतिक प्रथकता को व्यक्त करता है। जाति प्रथा की प्रथमता ही उसकी विशेषता है, जो उसके विकास में गति प्रदान करती है।

4.3 जाति प्रथा की विशेषताएँ

भारतीय समाज में रहने वाली विभिन्न जातियों की अपनी – अपनी कुछ विशेषताएं है जो उनके भिन्न–भिन्न समूहों को बनाये रखने में सहायक होती है ये मुख्यतः छ है–

1. एक जाति के सदस्य द्वारा दूसरे जाति के साथ विवाह करने पर प्रतिबन्ध

2. खान–पान में विभिन्न जातियाँ एक – दूसरे से प्रतिबन्ध रखती है।

3. अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते है।

4. जातियों के ऊँच–नीच का संस्तरणरहता है, जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च रहती है।

5. मनुष्य की जाति उसके जन्म से निर्धारित होती है, जाति के निमयों को तोड़ने पर व्यक्ति जाति – बहिष्कृत हो जाता है।

6. जाति के सम्पूर्ण प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है।

इन मान्यताओं/विशेषताओं के कारण कोई भी व्यक्ति अपनी जाति को आसानी से नहीं परिवर्तित कर सकता था। जाति – व्यवस्था के संरचनात्मक और संस्थात्मक पक्षों पर डॉ0 घूरे ने विस्तार के विचार किया है तथा उन्होंने उसके पृथकत्व, संस्तरण खान–पान की भेदकता, ऊँच – नीच की भावना सामाजिक और धार्मिक आयोग्यताएँ और विशेषाधिकार, व्यवसाय का बन्धन तथा विवाह का प्रतिबन्ध आदि उसकी प्रधान विशेषताए बताई है (कास्ट एंड आकुपेशन, पृ0 2–27)

4.4 जाति प्रथा के उद्भव सम्बंधी सिद्धान्त

भारत में जाति प्रथा की उत्पत्ति सम्बंधी अवधारणाएं विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा विभिन्न सिद्धांतों द्वारा प्रतिपादित की गई है। ये सिद्धान्त विभिन्न विचार दर्शन से प्रभावित है जिनमें तर्क के साथ–साथ विश्लेषण भी है–

4.4.1 दैवी सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय साहित्य में समाज के निर्माण का उल्लेख अलौकिक विश्वास के साथ वर्ण के माध्यम से किया गया है। वर्ण भारतीय जाति का प्रारम्भिक रूप है। वेदो, उपनिषदों महाकाव्यों, धर्मशास्त्रों और समृतियों में वर्ण या जाति प्रथा के उद्भव सम्बंधी सिद्धांत का संकेत ईश्वरीय व्यवस्था के रूप में मिलता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चारों वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र) की उत्पत्ति क्रमशः विराट पुरुष के मुख, बाहु, उरू तथा पैर से हुई मानी गई जिनका अलग–अलग कर्म निर्धारित किया गया था।

विभिन्न जातियों की उत्पत्ति के बारे में मनु का मत है कि वे अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण (वर्णसंकर) उत्पन्न हुई है। जाति प्रथा के उत्पत्ति सम्बंधी या दैवी सिद्धान्त को आज मिथ के अलावा और कुछ नहीं समझा जा सकता।

4.4.2 ब्राह्मणवादी सिद्धान्त

डुबायस जैसे अनेक समाजशास्त्रियों ने जाति प्रथा को ब्राह्मणों के लिए ब्राह्मणों द्वारा बनायी गयी राजनीति प्रेरित चतुर्वर्ण्य योजना के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि अपनी स्वतन्त्र और श्रेष्ठ स्थिति बनाये रखने के लिए ब्राह्मणों ने अपनी विशिष्टता और प्रधानता को ध्यान में रखकर जाति की संरचना की थी (हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स ऐड सेरेमनीज पृ0 173)। ब्राह्मणों द्वारा निर्दिष्ट वंशानुगत व्यवसाय का अपनाना सबके लिए अनिवार्य था। यहाँ ब्राह्मणों का विशेषअधिकार भी दीखता है उन्होंने अपनी स्थिति सर्वोच्च रखी डॉ0 घूरे के अनुसार – इण्डो – आर्यन लोग रोमन–संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित थे, जिसमें सम्भ्रान्त लोगों के बीच विभेद, समाज पर एकाधिकार, निम्न लोगों के साथ दास जैसा व्यवहार, कर्मकाण्ड की व्यवस्था आदि प्रवृत्तियाँ थी। अतः भारत में आने पर उन्होंने इन्ही प्रवृत्तियों के आधार पर समाज की रचना की। डॉ0 घूरे के अनुसार जाति – प्रथा इण्डो आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का बच्चा है जो गंगा और यमुना के मैदान में पला है और वहाँ से देश के दूसरे भागों में ले जाया गया है। (कास्ट, ऐंड आकुपेशन पृ0 165–68, 172)। घूरे के अनुसार – ब्राह्मणों ने आंशिक रूप से वैदिक कर्मकांडो की पवित्रता बनाये रखने की इच्छा आंशिक रूप से यहाँ के मूल निवासियों से अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के दृष्टिकोण से कुछ नियम बनाये जिससे उनका शूद्रों से मिश्रण न हो सके। इसके लिए शूद्रों को निम्न स्तर एवं निम्न रक्त का दर्शित करने के लिए

उन्होंने भ्रामक प्रचार किया।

4.4.3 धार्मिक सिद्धान्त

जाति प्रथा की उत्पत्ति धार्मिक क्रियाओं के आधार पर मानने वालों में प्रमुख आधुनिक समाज शास्त्री होकार्ट एवं सेर्नाट हैं। जहाँ होकार्ट के अनुसार जाति प्रथा की उत्पत्ति का आधार धर्म विभाजन था, वही सेनार्ट के लिए जाति प्रथा देवताओं को बलि प्रदान करने का संगठन है। बलि (हत्या) के लिए निम्न/दास (समूह), फूल जाने के लिए अलग समूह– जो बाद में अलग–अलग जातियों में परिणत हुए। जहाँ ब्राह्मण धार्मिक क्रियाएँ करवाता था, वहीं राजा स्वयं धार्मिक व्यवस्था (वर्णाश्रम धर्म) का संरक्षक रहा। विभिन्न व्यवसायों का निर्धारण भी धर्म के आधार पर किया गया। किन्तु इस सिद्धान्त की बड़ी कमी यह है कि इसमें समाजगत तत्वों की अवहेलना की गई है। वस्तुतः जाति प्रथा एक सामाजिक संस्था है और धार्मिकता उसका प्रक्षिप्त अंश है। यद्यपि सेनार्ट गोत्र को स्वीकार करता है, तथापि इसका विकास उसने धार्मिक आधार पर ही माना है (ब्रीफ व्यू ऑफ द कास्ट सिस्टम, पृ0 7)।

4.4.4 व्यावसायिक सिद्धान्त अथवा उद्‌विकासीय सिद्धान्त

नेसफील्ड ने केवल व्यवसाय को ही जाति प्रथा की उत्पत्ति का मुख्य कारण बताया है। नेसफील्ड ने जाति को समाज की एक प्राकृतिक उपज माना जिसके निर्माण में धर्म का कोई स्थान नहीं था। व्यवसायगत उच्चता और निम्नता के आधार पर ही समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसी जातियों की प्रस्थिति मानी गई और यही उनके विकास का मूल माना गया। किंतु उसने जातियों की उच्चता–निम्नता के का कारण नहीं बताया।

उद्‌विकासीय सिद्धान्त, व्यावसायिक सिद्धान्त का ही प्रतिरूप है। दहलमन्न ने नेसफील्ड के मत का समर्थन करते हुए यह कहा कि भारतीय समाज मूल रूप से तीन समूहों में विभक्त था 1. पुरोहित 2. शासक 3. आर्थिक क्रिया से सम्बंधित वर्ग। इनका व्यवसाय भी धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक था।

4.4.5 प्रजातीय सिद्धान्त

अनेक आधुनिक समाजशास्त्रियों जैसे मैकाइवर, क्राबर, राव, दत्त आदि का विचार है कि जाति प्रथा के विकास में प्रजातीय तत्व का विशेष हाथ रहा है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक रिजले के अनुसार जाति की उत्पत्ति प्रजातीय भावना और अनुलोम विवाह प्रथा से हुई है। इंडो–आर्यन प्रजातीय आद्यऐतिहासिक काल में पर्सिया (फारस) से भारत आये। वे अपने को यहाँ के निवासियों से श्रेष्ठ मानते थे। एक विजेता के रूप में पराजित लड़कियों विवाह किया। फलतः पंचनद में विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हुई, जो प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताओं पर आधारित थी। इन

जातियों को चातुर्वर्ण्य में स्थान नहीं मिला। घूरे ने भी इसी आधार पर जाति प्रथा के विकास को स्वीकार किया।

मजूमदार ने जाति – प्रथा की उत्पत्ति के मूल आधार की खोज वर्ण से की है, जिसकी अर्थ रंग और वर्ण दोनों है। इससे मतलब है प्रारम्भ के तीन वर्ण क्रमशः श्वेत, लोहित और पीतरंग के आधार पर एक–दूसरे से पृथक् थे, जो इण्डो – आर्यन प्रजाति और भारत के मूल निवासी प्राग् – द्रविड और आदि–भूमध्यसागरीय प्रजातियों की संपृक्तता से बने थे। फलतः दो संस्कृतियाँ आपस में टकरायी तथा प्रजातियों के संघर्ष के परिणाम स्वरूप अन्तर्विवाही समूहों का नियोजन हुआ। इन प्रजातीय समूहों ने अपनी रक्त की शुद्धता और सांस्कृतिक जीवन्तता बनाए रखने के लिए समाज में व्याप्त सम्मिश्रण से अपनी सुरक्षा का प्रयास किया (मजूमदार, रेसेज एंड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, पृ0 – 291)। प्रजातीय भेद और पक्षपात के कारण अनुलोम विवाह की व्याख्या की जाती है और उसके जाति–प्रथा के विकास के कारणों में से एक कहा जाता है।

4.5 जाति प्रथा का विकास

4.5.1 पंच जन

वैदिक युग के भातरीय आर्य अनेक जनों (कबीलों) में विभक्त थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पंचजना और पंचकृष्टयः का उल्लेख आता है जो निःसन्देह उस युग के आर्यो की पाँच प्रमुख जातियों (कबीलों) को सूचित करते हैं। वे पंच–जन अनु, द्रुहयु, यदु तुर्वशु और पुरू थे। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, सृंजय आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वेदों में आया है। निःसंदेह जैसे – जैसे आर्य लोग भारत में फैलते गये, उनमें विविध जनों का विकास होता गया। आर्य जाति के प्रत्येक जन में सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी, सबको एक ही विश (जनता) का अंग माना जाता था। आर्यो ने भारत में पूर्व अवस्थित समृद्ध लोगों (जिन्हें वेद में दास या दस्यु कहा गया है) जो जीतकर अपने अधीन किया।

आर्यो द्वारा विजित हो जाने के बाद भी शिल्प और व्यवसाय में इनकी निपुणता नष्ट नहीं हो पायी। यद्यपि आर्य इन्हें हीन समझते थे, फिर भी आर्यो एवं दासों में परस्पर सामाजिक सम्बंध का सवर्था अभाव हो, यह बात नहीं थी। प्राच्य भारत में जहाँ आर्यों की अपेक्षा आर्य भिन्न जातियों के लोग अधिक संख्या में थे, उनमें परस्पर विवाह–सम्बंध होता रहता था। उन प्रदेशों में ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्ण–संकर थे। जिन्हें संभवतः क्रव्य कहा जाता था। अथर्ववेद में क्रव्य जातियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। बाद में व्रात्य–स्तोम–यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यों को आर्य जाति में सम्मिलित करने की भी व्यवस्था की गयी। निःसंदेह वैदिक युग में आंरभिक समय में आर्य जनपदों मेंये दो वर्ण आर्य/दास स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।

4.5.2 जाति भेद का विकास

वर्ण जाति भिन्न–भिन्न है। गुण और कर्म के अनुसार किसी भी मानव समूह को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र वर्णों में विभक्त किया जा सकता है। किंतु भारत में जो सैकड़ो हजारों ऐसी जातियाँ है, जिनमें परस्पर विवाह–सम्बंध नहीं हो सकता, और खान–पान के विषय में भी जिनकी अपनी–अपनी मर्यादाएं है– उनका विकास वर्ण–भेद से पृथक् व स्वतन्त्र रूप से हुआ। भारत में वर्ण से अधिक जातिभेदका महत्व है। जिन्हें एक वर्ण का कहा जाता है उनमें भी कितनी ही पृथक् जातियाँ इस देश में है। विभिन्न जातियों के विकास के अनेक कारण थे।

1. भारत की अनेक जातियों का विकास गणराज्यों द्वारा हुआ, जो इस देश में सैकड़ों की संख्या में विद्यमान थे। दो प्रकार के गणराज्य थे – 1. वार्ताशस्त्रोपजीवि 2. राजशब्दोपजीवि

   - कम्बोज, क्षत्रिय, आरट्ट, आग्रेय और श्रेणि आदि वार्ताशस्त्रोपजीवी गणराज्यों के लोग वार्ता द्वारा आर्थिकोपार्जन करते हुए आत्मरक्षा के लिए शास्त्र भी उठाते थे।
   - लिच्छवि, वज्जि, कुकुर, पांचाल गणराज्य राजशस्त्रोपजीवि कहलाये। इनमें आर्येतर लोगों की बड़ी संख्या थी, परंतु राजशक्ति कुछ विशिष्ट कुलों में निहित थी। कुल का प्रमुख राजा कहलाता था। लिच्छवीगण में 7707 कुल थे। आर्थिकोपार्जन करने वाले, शासन कार्य करने वालों से अलग थे।

मगध के साम्राज्य विस्तार के साथ इन गणों की राजनीतिक स्वतंत्रता नष्ट हो गई। किन्तु मगध सम्राटों ने गणों के धर्मो को नष्ट न करने की नीति अपनाई। जैसे प्रत्येक मनुष्य को स्वधर्म का पालन करना चाहिए, वैसे ही साम्राज्य के प्रत्येक अंग ग्राम, कुल, गण और जनपद को भी स्वधर्म में दृढ़ रहना चाहिए। इस प्रकार गणों की राजनीतिक स्वाधीनता के नष्ट हो जाने पर भी गणों की सामाजिक व आर्थिक स्वाधीनता कायम रही।

पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय गण इस समय के अरोड़ा और खत्री जातियों में बदल गये। अर्थशास्त्र में वर्णित श्रेणीगण आज सैनियों के रूप में है। बौद्धकालीन पिप्पलिवन के मोरिय इस समय मोरई जाति के रूप में विद्यमान है। प्राचीन रोहितक गण इस समय रस्तोगियों के रूप मे, आग्रेयगण अग्रवालों के रूप में, कम्बोज गण कम्बोह जाति के रूप में आज भी विद्यमान है।

शक्तिशाली सम्राटों के संरक्षण में होने के कारण वार्ता–शस्त्रोपजीवि गणराज्य के लोगों को अब शस्त्रोपजीवि की आवश्यकता नहीं रही। अब वे केवल वार्तोपजीवि हो गये। अतः इनकी गणना वैश्य वर्ण में भी गई।

2. जातिभेद के विकास का एक अन्य कारण प्राचीन भारत में शिल्पियों की ऐसी

श्रेणियों की सत्ता है, जो अपने लोगों का स्वयं नियम कानून बनाती है जिसे राज्य संस्था मान्यता देती है। जैसे – सुवर्णकार, वर्धकि (बढ़ई) लौहकार (अयस्कार) तन्तुवाय (जुलाहा) तुन्यन्नाय (दरजी) रजक (धोबी) कम्मार (राजमिस्त्री) आदि शिल्पी श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक श्रेणी (गिल्ड) एक–एक आचार्य(उस्ताद) तथा उसके अधीन अनेक अन्तेवासी (शार्गिद) काम करते थे। तैयार माल की कीमत तथा प्राप्त धन का वितरण तय करना श्रेणी में आर्थिक उपार्जन सम्बंधित निर्णय श्रेणी स्वयं बनाती थी। श्रेणी के धर्म, चरित्र और व्यवहार को राज्यसंस्था द्वारा 'निबन्ध पुस्तकस्थ' (रजिस्टर्ड) किये जाने का विधान कौटिलीय अर्थशास्त्र में किया गया है। चूँकि ये श्रेणियाँ स्वाशासित होती थी।

फलतः कालान्तर में इन श्रेणियों ने जाति का रूप प्राप्त कर लिया। लुहार, बढ़ई, जुलाहा, धोबी कुम्हार, सुनार आदि जातियों का उद्भव इन शिल्पी श्रेणियों से हुआ है। चातुर्वर्ण्य में इन्हें किस वर्ण थे अन्तर्गत रखा जाए, यह निर्धारित कर सकना कठिन है।

भंगी चमार और डोम सदृश कई जातियों को अस्पृश्य माना जाता है।सम्भवतः इनका उद्भव उन दास जातियों से हुआ है, जिन्हें आर्यों ने जीतकर अपने अधीन किया था और जिन्हें उन्होंने निम्नतम प्रकार के कार्यो का सम्पादन करने के लिए विवश किया था। भंगी लोग सूर्यग्रहण के समय दान ग्रहण करते है, और गृहस्थों को आर्शीवाद तक देते हैं। अन्त्येष्टि संस्कार के समय डोम लोगों को भी दान दिया जाता है। हो सकता है कि ये आर्येतर लोगों के पुरोहित वर्ग के वंशज है, जिनका पौरोहित्य अत्यन्त सीमित रूप में आज तक भी कायम है। भंगी लोग मंदिर में देवदर्शन नहीं कर सकते। बल्कि मिट्टी की देवमूर्ति बनाकर पूजते थे।

कुछ विदेशी आक्रान्ता भारत में कुछ प्रदेशों को विजित करके यहाँ बस गये और यहाँ की भाषा, धर्म और संस्कृति को अपना लिया। शक, यवन आदि जातियों को गिना कर पुराणकार ने कहा है कि ये और अन्य जो भी पाप या पापयोनि जातियाँ है, वे सब जिस प्रभुविष्णु के सम्पर्क में आकर शुद्ध हो जाती हैं, उस विष्णु को नमस्कार है। जिन हूण लोगों ने बहुत बड़ी संख्या में भारत आक्रमण कर गुप्त साम्राज्य को तहस–नहस कर दिया था, संभवतः उन्हीं द्वारा अग्नि कुलीय राजपूत जातियों का उद्भव हुआ। पृथवीराज रासों उल्लिखित एक अनुश्रुति के अनुसार पंवार, प्रतिहार, चौहान आदि राजपूत जातियाँ अग्निकुण्ड से उत्पन्न जातियों को शुद्ध कर भारतीय समाज का अंग बना लिया गया था। भारत के प्राचीन क्षत्रिय प्रधानतया सूर्य, चन्द्र, यदु आदि वंशों के थे। अग्निकुलीय राजपूत क्षत्रिय से भिन्न हैऔर इनके बीच विवाह सम्बंध भी नहीं होते। अतः यह सोचा जा सकता है कि राजपूत जातियों का निर्माण उन विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा ही हुआ था, जिन्होंने इस देश के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया था गुर्जर (गूजर) और जाट

जैसे कई अन्य जातियों का उद्‌भव भी संभवतः विदेशी आक्रान्ता जातियों से ही है।

4.5.3 मौर्य युग

कौटिल्य ने चारों वर्णो के जो स्वधर्म प्रतिपादित किये हैं, वे भारत की प्राचीन परम्परा और सामाजिक मर्यादा के अनुसार है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विभिन्न वर्णो के लोग केवल इन्हीं कार्यो का अनुसरण करते हैं, और मौर्य युग के समाज में विभिन्न वर्णो के लोग केवल इन्ही कार्यो का अनुसरण करते हो, और मौर्य युग के समाज में विविध वर्गो के कार्य पूर्ण रूप से निर्धारित हो, यह बात नहीं थी। सैनिक सेवा यद्यपि क्षत्रिय धर्म माने जाते थे किंतु ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों की भी सेनाएं होती थी। ब्राह्मण सेना को शत्रु प्राणिपात्(विनय व सम्मान का प्रदर्शन) द्वारा अपने पक्ष में कर सकता है।

कुछ परिस्थितियों में शूद्र यज्ञ कर सकते थे और उन्हें वेदादि की शिक्षा दी जा सकती थी (कोटिल्य)। यदि किसी पुरोहित को इस कार्य के लिए आदेश दिया जाए कि वह अयाज्य (शुद्र आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हें यज्ञ का अधिकार न हो) को यज्ञ कराये या उसे पढ़ाए, और वह इस आदेश का पालन न करे, तो उसे पदच्युत कर दिया जाए।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वणों के लोग आर्य जनता के अंग माने जाते थे। आर्योत्तर लोगों को म्लेच्छ कहते थे। शूद्रो की गणना भी आर्यो में ही की जाती थी। दासों के सम्बंध में व्यवस्था करते हुए कौटिल्य ने लिखा है, कि यदि कोई शूद्र को दासरूप में विक्रय के लिए ले जाये तो उस पर बारह पण जुर्माना किया जाए। कौटिल्य ने आगे कहा कि आर्य को कभी दास नहीं बनाया जा सकता, यद्यपि म्लेच्छों में सन्तान को दासरूप में बेचना व खरीदना दोष नहीं है।

साथ ही कौटिल्य ने अनेक वर्णसंकर की चर्चा की है। अम्बष्ठ, निषाद, पारशव, उग्र, मागध, वैदेहक, सूत्र कुटक, पुक्कस, वैण्य, चण्डाल, श्वपाक आदि उललेखनीय है। कौटिल्य ने इन विविध वर्णसंकर जातियों को 'शूद्रसधर्मा' कहा है, जिससे सूचित होता है कि इनकी स्थिति शूद्रों के समकक्ष मानी जाती थी। पर चण्डालों की स्थिति इससे भी हीन रखी गई है। वे नगरों में श्मशान के समीप निवास करें ऐसा निर्देश था।

अम्बष्ठ, निषाद, वैण्य की उत्पत्ति चाहे किसी भी प्रकार से क्यों न हुई हो, परन्तु मौर्य काल में उन्हें वे प्रथम् जातियों के रूप में आ चुके थे। और चूँकि चातुर्वर्ण में उनका समायोजन नहीं हो सकता था। अतः उन्हें शूद्रों के अन्तर्गत माना गया। कौटिल्य ने इनके लिए जाति की संज्ञा का प्रयोग किया है।

इसके अतिरिक्त मौर्य काल में व्यवसाय के आधार पर अनेक जातियों का विकास हो चुका था। जैसे– तन्तुवाय (जुलाहे), रजक (धोवी) तुन्नवाय (दर्जी),

सुवर्णकार (सुनार), चर्मकार, कर्मार (लुहार), लोहकारू, कुट्टाक (बढ़ई) आदि। इनका समावेश शूद्र वर्ण में किया गया और इन्हें आर्य जनता का अंग माना जाता था।

मेगस्थनीज ने अपनी रचना यात्रा वृतान्त में मौर्य युगीनजनता को सात जातियों में विभक्त किया है—

1. दार्शनिक 2. किसान 3. अहीर, 4. गड़रिया एवं चरवाहे 4. कारीगर 5. सैनिक 6. निरीक्षक 7. शासक वर्ग।

उसकी एक सोच उसकी चिर—परिचित ग्रीस और इजिप्ट की सामाजिक संरचना से प्रभावित लगती है। क्योंकि ये सभी लोग तत्कालीन समाज में मौजूद थे। अतः मेगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज का कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य से कोई विरोध नहीं है। दोनों के दृष्टिकोण में ही अन्तर है।

वर्तमान काल में भी हिन्दू समाज को चार वर्णो में विभक्त समझा जाता है। किंतु कई जातियाँ हैं जो इन चातुर्वर्ण में स्थान नहीं पाती। ये अपनी पृथक जाति के रूप में विद्यमान है। आर्थिक व सामाजिक रूप से मजबूत जरि एवं कायस्थ जातियाँ इनके उदाहरण हैं। मौर्यकाल में भी तन्तुवाय, रजक पृथक जाति का रूप ले चुके थे। उनके परंपरागत नियमों को राज्यसंस्था द्वारा मान्यता प्राप्त थी। कौटिल्य ने इन्हें शूद्र वर्ण में रखा। ध्यातव्य है कि उन दिनों शूद्रों की सामाजिक स्थिति हीन नहीं थी— उन्हें भी आर्य माना जाता था। जहाँ मनु ने शूद्रों का स्वधर्म उच्च तीन वर्णो की सेवा माना है, वही कौटिल्य ने कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं शिल्प भी माना है।

4.5.4 गुप्त काल तथा गुप्तोत्तर काल

मौर्योत्तर काल में चातुर्वर्ण्य का जो स्वरूप विकसित हो गया था, गुप्त युग तथा मध्य काल में भी वह प्रायः उसी प्रकार से जारी रहा। किन्तु अब चातुर्वर्ण्य का आधार गुण और कर्म न होकर जन्म ही था। शुंगों और कण्वों के समान बाद में भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न अनेक व्यक्तियों ने राज सिंहासन प्राप्त किये, और क्षत्रिय कर्म करते हुए भी उन्हें ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत ही माना गया। मानव्य गोत्र में उत्पन्न मयूर शर्मा नामक एक ब्राह्मण अपने गुरू वीर शर्मा के साथ चारों वेदों का अध्ययन करने और गुरूकुलावास में रहकर अपनी शिक्षा को पूर्ण करने के लिये आया था, परन्तु काँची के पल्लव राजा के अन्तपालों से संघर्ष शुरू किया और पल्लवराज के एक प्रदेश पर कब्जा किया। उसने क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ा ली और वनवासी नगरी को राजधानी बनाकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। उसने अपनी विजयोपलक्ष्य में अठारह बार अश्वमेध यज्ञों को अनुष्ठान किया। यह नया वंश कदम्ब वंश कहलाया। हवेनसांग (सातवी सदी) के समय में उज्जैन, जिहोती

और महेश्वरपुर के राजा ब्राह्मण थे। गुप्त वंश के राजा संभवतः वैश्य वर्ण के थे। स्थानेश्वर का हर्षवर्धन – वैश्य वर्ण का ही माना जाता है। सिंघ के शूद्र राजाओं का भी ध्वेनसांग उल्लेख करता है। इस युग में भी चातुर्वर्ण्य के वे ही कर्म माने जाते थे, जिनका निरूपण प्राचीन स्मृतिकारों द्वारा किया गया।

वैश्य वर्ण के लोगों में दो भेद स्पष्ट रूप से प्रकट होने लग गये थे। उनमें से एक वर्ण समृद्ध श्रेष्ठियों तथा सार्थवाहों का था तथा दूसरा शिल्पियों तथा कृषकों का। सभी वैश्य समृद्ध श्रेष्ठी नहीं बन सकते थे। बहुसंख्यक वैश्य शिल्पों, खेती और पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह किया करते थे, और उनकी सामाजिक स्थिति बहुत साधारण हो गई थी। पतंजलि के अनुसार रथकार, तन्तुवाय सदृश कितने ही प्रकार के शिल्पी शूद्र वर्ग में गिने जाते थे, और चाणक्य के अर्थशास्त्र में शूद्रों द्वारा किये जाने वाले कार्यो में कृषि को भी शामिल किया गया है। जब वैश्य और शूद्र दोनों शिल्प और कृषि द्वारा आजीविका चला रहे हों, तो उनकी सामाजिक स्थिति में विशेष अन्तर नहीं रह जाता। कालान्तर में यज्ञादि एवं वेदाध्ययन से विरत्त होने के कारण भी वैश्य शूद्र के समकक्षी प्रतीत होने लगे। शूद्र अथवा दास का प्रमुख कार्य तीनों वर्णो की सेवा करना ही माना जाता था। परन्तु ये उच्च वर्ग के लोगों के घरों मे ंकेवल घरेलू कार्य ही नहीं करते थे, अपितु कृषि, पशुपालन, शिल्प आदि में भी उनका हाथ बटाया करते थे। इस दशा में शूद्रों का भी एक ऐसा वर्ग हो गया जो स्वतन्त्र रूप से कृषि, पशुपालन और शिल्प द्वारा अपना निर्वाह करता था, और जिसकी स्थिति उन वैश्यों जैसी ही थी जो बड़े श्रेष्ठी या सार्थवाहन होकर साधारण कृषक, पशुपालन और शिल्पी थे।

इतिहासकार प्रोफेसर विजय नाथ के अनुसार गुपोत्तर काल में बहुतायत संख्या में पुराणों की रचना हुई। जिसका प्रमुख कारण सामन्ती व्यवस्था थी। ग्राम दान अथवा भूमिदान अधिकांशतः परिधीय क्षेत्रों में होते थे। बहुत स्वाभाविक है कि वहाँ की स्थानीय जनता (जनजाति आदि) को मुख्य धारा से लाये बिना वहाँ के कृषि कार्य द्वारा आर्थिको पार्जन तथा कानून–व्यवस्था बनाये रखना मुश्किल था। अतः परिधीय क्षेत्रों के निवासियों को मुख्य धारा में शामिल करने हेतु उन्हें धार्मिक एवं सामाजिक रियायत(concession) दी गई एवं संस्कृत में रचित क्लिष्ट एवं गूढ़ वेदों आदि धार्मिक ग्रंथों को सरलतम भाषा एवं सुगम विषय वस्तु के रूप में गढ़ा गया। कुछ जनजातीय विश्वासों एवं प्रथाओं को भी ब्राह्मण धर्म एवं समाज में मान्यता दी गई। फलस्वरूप दोनों संस्कृतियों का सम्मिश्रण (Acculturation & Assimitation) दीखता है। जातियों, उपजातियों की भी बहुतायत में बढ़ोत्तरी का यही भी प्रमुख कारण माना जाता है (वन्दना वर्मा, हिस्टोरियोग्राफी ऑफ एन्शियंट इण्डिया : ट्रेण्डस इन इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, दिल्ली, 2009, पृ0 172–73)।

4.6 सारांश

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भारत में जाति भेद का विकास विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है। निः संदेह, इससे कुछ हितकारी तथा कुछ अहितकारी परिणाम भारतीय समाज के लिए सिद्ध हुए। एकतन्त्र सम्राटों के शासनकाल में भी जनपद और श्रेणी आदि के संगठनों के कारण जनता में स्वशासन की परंपरा बनी रही। भारत में आज तक जातियों व बिरादरियों की अपनी पंचायते हैं, उनका अपना चरित्र व व्यवहार है। सामाजिक कानून भी उनके अपने है। जाति–भेद के कारण भारत में शिल्प कुछ विशेष कुलों में ही सुरक्षित रहे। प्राचीन भारत में विद्या, विज्ञान, व्यापार, शिल्प आदि सभी क्षेत्रों में जो इतनी अधिक उन्नति हुई, उसका कुछ श्रेय इस जाति–भेद को भी दिया जा सकता है।

परन्तु जाति–भेद के अनेक दुष्परिणाम भी हुए। इससे भारतीयों में संकीर्णता की भावना विकसित हुई। विद्या और सान ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गये। सर्वसाधारण शिल्पी, व्यापारी वर्ग अशिक्षित रह गया। प्राचीन व मध्यकालों का भारतीय शिल्पी पाश्चात्य जगत के शिल्पी से किसी भी तरह कम नहीं था। परन्तु पुर्नजागरण के दौर में नये ज्ञान, विज्ञान तकनीकि की सहायता जहाँ यूरोपीय शिल्पी उन्नति करने लगा वही भारतीय शिल्पी की अशिक्षा ने उसे पुरानी दशा से आगे नहीं बढ़ने दिया। वहीं, क्रियात्मक जीवन से सम्बन्ध न होने के कारण भारत की ब्राह्मण अपने ज्ञान से कोई सांसारिक लाभ नहीं प्राप्त कर सका। जाति–विभेदन का दूसरा कुपरिणाम यह था कि भारत की जनता में एकता की भावना नहीं उत्पन्न हो सकी।

4.7 बोध प्रश्न

1. जाति प्रथा के उद्भव सम्बन्धी विभिन्न सिद्वान्तों का विवरण दीजिए।
2. भारतीय जाति प्रथा की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. भारतीय जाति प्रथा के विभिन्न आयामों का वर्णन कीजिए।

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
2. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
3. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई–5 आश्रम व्यवस्था : प्रकृति, विकास, प्रकार, आश्रमों का मनोवैज्ञानिक आधार, जीवन में आश्रमों का महत्व

इकाई की रूपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रकृति

5.3 आश्रम व्यवस्था का विकास

5.4 आश्रमों के प्रकार

5.4.1 ब्रह्मचर्य आश्रम

5.4.2 गृहस्थ आश्रम

5.4.3 वानप्रस्थ आश्रम

5.4.4 सन्यास आश्रम

5.5 आश्रमों का मनोवैज्ञानिक आधार एवं महत्व

5.6 सारांश

5.7 बोध प्रश्न

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में चार आश्रमों का बहुत महत्व था। ये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम थे। आश्रमों की संकल्पना का आधार था–प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य देवताओं, प्राकृतिक शक्तियों ऋषियों, पितरों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। इनके बिना उसके जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। चारों आश्रमों में रहकर विनिर्दिष्ट पुरूषार्थ करते हुए वह तीनों ऋणों देवऋण, पितृ ऋण एवं नृद्धण का उतारने का क्रमिक प्रयास करता है। भारतीय दर्शन में गृहस्थ आश्रम को अधिक महत्व दिया गया है। वसिष्ठ सूत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार सबसे बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र में जाकर विश्राम पाती है, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर आश्रित रहते है।

5.1 उद्देश्य

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के सम्यक् शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास हेतु विनिर्दिष्ट चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के निष्पादन की व्यवस्था क्रमशः चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास) के अन्तर्गत किया है।

5.2 आश्रम की प्रकृति

संस्कृत के विभिन्न साहित्यकारों ने इस व्यवस्था की उदात्तता को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। कालिदास के रघुवंश महाकाव्य के रघुवंशीय नायकों की चरम विशेषता चतुराश्रम पालन थी।

शैशवेऽभ्यस्तविधानां यौवने विषयैषिणाम्

वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।

अर्थात् ये चार आश्रम जीवन के चार विश्राम स्थल है। मानव जीवन प्राप्त होने पर उसको व्यतीत तो सभी कर लेते है, किंतु आदर्श जीवन जी सकने के लिये आश्रम व्यवस्था एक निश्चित दिशा प्रदान करती है। आ+श्रम=आ उपसर्ग तथा श्रम धातु से मिलकर बना है। आश्रम व्यवस्था ऐसा स्थल है जहॉ व्यक्ति निर्दिष्ट पुरुषार्थो को क्रमशः सम्पन्न करता हुआ मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में चार वर्णो के समान चार आश्रमों का भी बहुत महत्व था। ये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम थे। आश्रमों की संकल्पना का आधार था–प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य देवताओं, प्राकृतिक शक्तियों, ऋषियों, पितरों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। इनके बिना उसके जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। चारों आश्रमों में रहकर विनिर्दिष्ट पुरुषार्थ करते हुए वह तीनों ऋणों देवऋण, पितृऋण एवं नृऋण को उतारने का क्रमिक प्रयास करता है। भारतीय हिन्दू दर्शन में गृहस्थ आश्रम को अधिक महत्व दिया गया है। वसिष्ठ सूत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र मेंजाकर विश्राम पाती है, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर आश्रित रहते है।

योग शास्त्र में धर्म का लक्षण बताया गया है कि –**''यतोभ्युदयनिः श्रेय सिद्धि स धर्मः।''** जिस द्वारा सांसारिक अभ्युदय और निःश्रेयज्ञ (मोक्ष) की सिद्धि हो, वह धर्म है। गृहस्थ आश्रम में रहकर मनुष्य सांसारिक विस्तार पावे किन्तु भोग के उपरान्त स्वेच्छा से उनका त्याग करके अध्यात्मचिंतन और परोपकार में अपना जीवन व्यतीत करे। अतः मानव– जीवन को सौ वर्षो के चार भागों में विभक्त किया गया था। क्रमशः पहले ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य के बुद्धि विकास, शिक्षा ग्रहण तथा

शक्ति संचय के लिये प्रयास करना था। तदुपरान्त पच्चीस वर्ष गृहस्थ जीवन में धर्मपूर्वक धनोपार्जन करके सांसारिक सुख भोगना होता था। पचास वर्ष हो जाने पर गृहस्थ को स्वेच्छापूर्वक आरण्यक आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारियों को विद्यादान देते हुए अध्यात्म चिंतन में जीवन बिताना चाहिए। पचहत्तर वर्ष के ज्ञानी मनुष्य से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपना शेष जीवन परोपकार एवं ज्ञान बाँटने में व्यतीत करें।भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करने वाला प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति की ओर उन्मुख संयासी मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता था।

5.3 आश्रम व्यवस्था का विकास

वैदिक साहित्य में 'ब्रह्मचारी', ब्रह्मचर्य एवं यति शब्दों का उल्लेख मिलता किंतु चारों आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। किंतु ब्राह्मण ग्रंथो, आरण्यकों और उपनिषदों में चारों आश्रमों की सत्ता के अनेक संकेत विद्यमान है। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख मिला है कि ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण कर गृही (गृहस्थ) बने, गृही जीवन बिताकर वनी (वानप्रस्थ) बने और फिर वनी होने के बाद परिव्राजक सन्यासी बन जाए। ऋग्वेद में गृहस्थ के लिये गृहपति शब्द प्रयुक्त हुआ है, और सन्यासी के लिये यति। वृहदारण्यकोपनिषद में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा है कि मैं अब परिव्राजक बन रहा हूँ। किन्तु चार आश्रमों का सर्वप्रथम उल्लेख जाबालोपनिषद में मिलता है। क्रमशः उपनिषद काल तक आश्रम व्यवस्था का पूर्ण रूप से विकास हो गया था। सूत्र–ग्रन्थों, पुराणों, महाभारत और स्मृतियों में चारों आश्रमों का स्पष्ट तथा विशद रूप से उनके धर्म एवं कर्तव्य का प्रतिपादन किया गया है।

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार आश्रम व्यवस्था का प्रारम्भ प्रहलाद के पुत्र कपिल द्वारा किया गया था। चातुर्वर्ण्य के समान चार आश्रमों का उद्गम भी प्राचीन चिन्तकों ने ब्रह्मा से माना है। महाभारत, ब्रह्माण्ड पुराण और वायु–पुराण में उल्लिखित एक श्लोक के अनुसार ब्रह्मा द्वारा चार वर्णो के समान चार आश्रमों की भी स्थापना की गई थी। इन आश्रमों के नाम वहाँ गृहस्थ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और भिक्षुक दिये गये है। सन्यासी के लिये ही वहॉ भिक्षुक शब्द का प्रयोग किया गया है। मनुष्य अपने जीवन की किस आयु में किन–किन कर्मो का सम्पादन किया करे, इसका स्पष्ट रूप से निरूपण करने के लिए ही मानव–जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया। राजा मनुष्यों को वर्ण–धर्म की भाँति आश्रम–धर्म के पालन के लिये भी प्रेरित करे– ऐसा निर्दिष्ट है। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार आश्रम–धर्म के पालन से पुण्य लोक की प्राप्ति होती है। वायुपुराण के अनुसार जिसका मन आश्रम धर्म के पालन में न लगे, उसे कुम्मीपाक नरम में जाना पड़ता है। निःसंदेह उत्तरवैदिक काल तक भारत में आश्रम व्यवस्था भली भाँति स्थापित हो चुकी थी। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या आर्य जनपदों के सब निवासी वस्तुतः आश्रम धर्म का पालन किया करते थे? प्राचीन भारतीय साहित्य की अनुपलब्धता से स्थिति स्पष्ट

नहीं है। धर्म–सूत्रों और स्मृतियों आदि में एक आदर्श समाज का चित्र उपस्थित किया गया है, जो वर्णाश्रम पर आधारित है। वास्तव में जातक कथाएं और गौतम बुद्ध के संवाद तत्कालीन समाज पर अच्छा प्रकाश डालते हैं बौद्ध साहित्य में गृहस्थ के लिये गहपति (गृहपति) शब्द का प्रयोग किया गया है। सत्यकेतु विद्यालेकार ने अपनी पुसतक प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन में व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त गहपति शब्द की स्पष्ट व्याख्या की है। उनके अनुसारगहपति सब स्थिति के होते थे, अनाथ पिण्डक के समान अतुल सम्पत्ति के स्वामी भी और साधारण गृहस्थ भी–जो विविध प्रकार के व्यवसायों, कृषि व व्यापार आदि से अपने जीवन का निर्वाह किया करते थे। बुद्ध की शिक्षाओं को स्वीकार कर लेने वाले गृहपति उपासक कहाते थे, और जब तक वे गृहस्थ की जिम्मेदारियों को पूर्ण कर भिक्षुव्रत न ग्रहण कर ले, उन्हें गृहपति ही माना जाता था।

बुद्धकाल में समाज में दो अन्य वर्गो की सत्ता थी, जिन्हें भिक्षुक (भिक्षु) और परिब्बाजक/परिव्राजक या सन्यासी कहते थे। बौद्ध संघ में कोई भी, किसी भी आयु का व्यक्ति भिक्षुव्रत ग्रहण कर संघ का सदस्य हो सकता था। स्त्रियों को भी भिक्षु बनने का अधिकार था। फलतः सभी आयु स्त्री–पुरुष आर्थिक उपार्जन की चिंता को त्याग कर बहुत बड़ी संख्या में भिक्षु का जीवन बिताने के लिए तत्पर होने लगे और प्राचीन आश्रम व्यवस्था कायम नहीं रह सकी।

कौटलीय अर्थशास्त्र और ग्रीक यात्रियों के विवरणों द्वारा आश्रम व्यवस्था का स्पष्ट चित्रण मिलता है। ब्रह्मचारी का स्वधर्म स्वाध्याय अग्निकर्म,(यज्ञ) अभिषेक, भिक्षावृत्ति, मोक्षव्रत आचार्य (गुरू) के प्रति प्राणत्तिकी वृत्ति (चाहे उसमें प्राण तक क्यों न चलो जाए ऐसी सेवा भाव) है।

गृहस्थ के स्वधर्म अपने कर्म (पेशे) द्वारा आजीविका कमाना ,तुल्य स्थिति के ऐसे परिवार में विवाह करना जिसका ऋषि (गोत्र) अपने परिवार के ऋषि से भिन्न हो, ऋतुगमित्व पत्नी के साथ मासिक धर्म पश्चात् सहवास और देवता, पितर, अतिथि तथा मूल्यों के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करने में अपनी आमदनी का व्यय करना, और इसके पश्चात् शेष बचे से अपना निर्वाह करना है।

वानप्रस्थ के स्वधर्म ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना, भूमि पर शयन करना, जटा धारण करना, अजिन् (मृगचर्म) ओढ़ना अग्निहोत्र तथा अभिषेक करना, देवता पितर तथा अतिथि की पूजा करना और वन्य आहार द्वारा निर्वाह करना है।

परिव्राजक के स्वधर्म इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना, अनारम्भ (कोई धन्धा न करना) निष्किञ्चनत्व (कोई भी सम्पत्ति न रखना) संगत्याग, अनेक स्थानो पर भिक्षा ग्रहण करना जंगल में तन मन की पवित्रता के साथ रहना। स्मृति ग्रंथों से कुछ भिन्न कौटिलीय विवरण में गृहसथ आरम का महत्व बहुत अधिक था। स्वधर्म का पालन करना कौटिल्य की सम्मति में बहुत उपयोगी है, और राज्यसंस्था का

एक महत्वपूर्ण कार्य यह है, कि वह सबको वर्ण–धर्म और आश्रम में स्थित रखे। उनके अनुसार यदि कोई मनुष्य अपनी पत्नी और संतान के भरण–पोषण की समुचित व्यवस्था किये बिना ही प्रव्रज्या ग्रहण करे तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाए। यही दण्ड उस व्यक्ति के लिए भी है, जो किसी स्त्री को प्रव्रज्या दे। केवल ऐसे ही मनुष्य परिव्राजक बन सके जिनकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई हो, और जिन्होंने धर्मस्थ न्यायालयों के न्यायधीशों से अनुमति भी हो। इस व्यवस्था के चलते मौर्ययुग में परिव्राजिकाओं का उल्लेख आया है, जिनका उपयोग गूढ़पुरुषों गुप्तचरों के रूप में किया गया जाता था। ग्रीक लेखकों का उल्लेख आया है, जिनका उपयोग गूढ़पुरुषों (गुप्तचरों) के रूप में किया जाता था। ग्रीक लेखकों के विवरणों के सम्बंध में जो परिचय मिलता है, वह महत्वपूर्ण है कि जब सिकन्दर भारत आक्रमण करता हुआ तक्षशिला पहुँचा तो उसे पता चला कि वहाँ पन्द्रह ऐसे सन्यासी निवास करते हैं जो कि सांसारिक जीवन का परित्याग कर तपस्या, ध्यान और समाधि में अपना सब समय व्यतीत करते है। सिकन्दर इन संयासियों से उसकी साधना विधि जानना चाहता था।

ग्रीक लेखकों ने एक वृद्ध सन्यासी का उल्लेख किया जिसका नाम दण्डी (दण्ड–मिस) था। सिकन्दर ने ओनेसिक्रितस से दण्डी की जो बातचीत हुई उसे सुनकर सिकंदर दण्डी से भेंट करने को उत्सुक हो गया। जो सिकन्दर कितने ही देशों को जीतकर अपने अधीन कर चुका था, वह इस वृद्ध और नग्न ब्राह्मण संयासी से परास्त हो गया था और उसने अनुभव कर लिया था कि भारत में संयासी महात्माओं का एक ऐसा वर्ग विद्यमान है, जो न मौत से डरता है और जो न धन सम्पत्ति की लालच में आ सकता है। सांसारिक सुखों का त्यागकर वह तप, योगाभ्यास और आत्मचिंतन में ही अपने समय को व्यतीत करता है, और मोक्ष प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाता है। इस प्रसंग से निश्चय रूप से लगता है कि चौथी सदी ई0 पू0 में भारत में बहुत से संयासी हुआ करते थे।

मौर्य वंश के पतन के पश्चात् जब बौद्ध धर्म के विरूद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरूत्थान हुआ, तो उस काल के चिन्तकों ने गृहस्था आश्रम को बहुत महत्व दिया। महाभारत जिस रूप में आजकल उपलब्ध है– का निर्माण शुंगकाल में ही हुआ था। अतः महाभारत के अनेक संदर्भ आश्रम व्यवस्था के प्रति तत्कालीन युग के रूख कर अच्छा प्रकाश डालते है। महाभारत के शांतिपर्व के अनुसार जैसे सब प्राणि अपने जीवन के लिए माता पर आश्रित होत है वैसे ही अन्य सब आश्रमों की स्थिति का आधार गृहस्थ आश्रम ही है। इसमें एक संदर्भ उल्लेखनीय है कि विदेह के राजा जनक द्वारा संयास लेने के विचार करने पर उनकी पत्नी न उन्हें समझाया कि वे संयास व्रत लेते हुए अपने कर्तव्य से विमुख हो रहे है।

महाभारत युद्ध की समाप्ति पर युधिष्ठिर को संताप हुआ और अपनाने का

विचार व्यक्त किया जिसपर अन्य भाइयों ने उन्हें समझाया और इस विचार को पापिष्ठावृत्ति कह डाला। बिना अपना कर्त्तव्य पूरा किये भिक्षुवृत्ति अपनाने वालों की उपमा उस कुत्ते से दी गई जो भोजन की आशा से सबके मुखों की ओर देखते है। मनुष्य को अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन में सदा जागरूक रहना चाहिए। तभी वह पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण से मुक्त हो सकता है। यह गृहस्थ आश्रम द्वारा ही सम्भव है। ये विचार उस प्रतिक्रिया के परिचायक हैं जो मौर्योत्तर युग में बौद्ध धर्म और जैन धर्मो के विरूद्ध हुई थी।

परंतु बौद्धों द्वारा भिक्षु जीवन को जो बल मिला था, उसका प्रभाव वैदिक धर्म के अनुयायियों पर पड़ना भी सर्वथा स्वाभाविक था। यही कारण है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यह प्रतिपदित किया गया है, कि जिस दिन भी वैराग्य हो जाए उसी दिन परिव्राजक हो जाए। किंतु आपस्तम्ब का यह वचन प्राचीन आश्रम मर्यादा के अनुरूप नहीं था। वैसे भी सन्यास आश्रम सब वर्णो के लिये न होकर केवल ब्राह्मणों के लिए ही था, क्योंकि परिव्राजक को जिस त्याग, तपस्या, साधना और परोपकार का जीवन बिताना होता था, वह सभी के वश की बात नहीं थी। वैदिक धर्म के पुनरूत्थान के इस काल में समाज का नेतृत्व जिन ब्राह्मणों के हाथों आ गया था, वे भिक्षु संयासी बने बिना गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन किया करते थे। भिक्षु जीवन सबसे श्रेष्ठ है, और गृहस्थ सांसारिक जीवन बिताते हुए निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता – यह विचार बौद्धों ने मजबूती से पकड़ा था। इस समय इसके विरूद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई और गृहस्थाश्रम सबसे महत्वपूर्ण माना गया। मनु स्मृति अनुसार जैसे वायु को पाकर ही सब प्राणी जीवन धारण करने में समर्थ होते है, वैसे ही अन्य सब आश्रम गृहस्थ पर आधारित होकर अपनी सत्ता को कायम रख सके। ब्रह्माण्ड एवं विष्णु पुराणों में गृहस्थ आश्रम सबसे पर (श्रेष्ठ) एवं वायुपुराण में गृहस्थाश्रम को शेष तीनों की प्रतिष्ठायोनि कहा है।

5.4 आश्रमों के प्रकार

कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित आश्रम धर्म सम्बंधी उनके विचारों का तत्कालीन समाज के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन काल के नैतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिदृश्य में विनिर्दिष्ट कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित आश्रम धर्म पर हम पूर्व में ही विवेचना कर चुके है। चूँकि अन्य प्राचीन धार्मिक साहित्य में भी आश्रम व्यवस्था पर विशद रूप में वर्णन उपलब्ध है। अतः उनके आलोक में देखना और अधिक समीचीन होगा। मुख्यतः चार आश्रमों की चर्चा मिलती, किंतु सन्यास आश्रम का पालन सभी के लिए संभव नहीं है। यह केवल ब्राह्मण और महान तपस्वी, त्यागी पुरुषों के लिए विहित है क्योंकि ज्ञान और निवृत्ति की उस पराकाष्ठा वहीं पर पहुँच सकता जो परब्रह्म को ही अंतिम सत्य मानता हो ये चार आश्रम क्रमशः चार पुरुषार्थों का अनुपालन करने की शरण स्थली है। और अर्न्तसम्बंधित

अभिव्यक्ति का आधार है। हिन्दू धर्म में मनुष्य के शतायु होने की मामना की गई है। अतः सामान्यतः 25–25 वर्षो में बॉटकर उनके क्रमशः चार पुरुषार्थो को निष्पादन हेतु अलग–अलग चार आश्रमों का विधान किया गया है–

5.4.1 ब्रह्मचर्य आश्रम

उपनयन संस्कार के उपरान्त मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर सकता है। उपनयन का अर्थ है समीप ले जाना। इस संस्कार द्वारा ब्रह्मचारी गुरू के पास रहते हुए ज्ञान अर्जित करता है। उपनयन का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण को ही प्राप्त था। इन्हें द्विज या द्विजन्मा भी कहा जाता है। मॉ की भाँति गुरू ब्रह्मचारी को अपने गर्भ (संरक्षण) में रखकर दूसरा जन्म देता है।

जब वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म माना जाने लगा, तो विभिन्न वर्ण के व्यक्तियों के उपयन संस्कार का समय एवं इसमें प्रयुक्त होने वाले मंत्र भी सबके लिए अलग–अलग माने गये। आपस्तम्द धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपयन बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का शरद ऋतु में किया जाना चाहिए। इस अवसर पर ब्राह्मण के लिए गायत्री मंत्र के, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुभ मंत्र के और वैश्य के लिए जगती मंत्र प्रयोग का विधान बौधायन सूत्र में किया। बालकों के समान बालिकाओं को भी उपयन का अधिकार था। वे सभी यज्ञोपवीत धारण कर गुरूकुलों में निवास करती थे। उपयन संस्कार हेतु विभिन्न वर्णो के लिये आयु भी भिन्न–भिन्न निर्धारित की गई है। ब्राह्मण के लिए आठवें वर्ष में, क्षत्रिय के ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य के लिए बारहवें वर्ष में उपनयन का विद्या किया गया था। ब्राह्मण बालक से अपेक्षा थी कि वह गुरूकुल में चिरकाल तक रहकर वेदों, शास्त्रों एवं अन्य सभी विद्याओं का अध्ययन करेगा, इसलिये उसे स्वल्पायु में ही ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करना होगा। ब्रह्मचारी का वेश भी निर्धारित था। वह उत्तरीय दुपट्टा और अधोवस्त्र (धोती), यज्ञोपवीत दण्ड, मेखला धारण करता था। मेखला भी विभिन्न वर्णो के लिये भिन्न–भिन्न निर्धारित थी।

कर्म : ब्रह्मचारी गुरूकुल में निवास करता हुआ, प्रतिदिन ब्रह्ममूर्हूत में उठकर नित्य कर्म करके, यज्ञ (अग्निहोत्र) करके भिक्षाटन के लिये निकलता था। गृहस्थ स्त्रियों का कर्तव्य होता था कि वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार ब्रह्मचारी को भिक्षा अवश्य दे। आपस्तम्ब सूत्र में लिखा है कि यदि कोई – स्त्री ब्रह्मचारी को भिक्षा न दे, तो उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है। जंगल से समिधाएं (यज्ञ एवं भोजन के लिए लकड़ियाँ) जुटाना भी उनका कार्य था। गुरू की सेवा गुरू की अनुपस्थिति में गुरूपुत्र एवं गुरूकुल के पशुओं की देखभाल करना भी ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य थे।

ब्रह्मचारी के लिए जूते पहनना, छत्र धारण करना, सुगंधियों का प्रयोग करना, मालाएं पहनना, आँखों में अंजन लगाना, गाना, नृत्य करना एवं स्त्रियों का संग करना सर्वथा निषिद्ध था। यम–नियम का पालन करते हुए तप एवं संयम का जीवन

बिताते हुए ब्रह्मचारी को ज्ञान अर्जित करना था। आश्रम की कोई अवधि निश्चित नहीं थी। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मचारी 36 वर्ष या उसके आधे 18 वर्ष या उसे चौथाई व वर्ष तक गुरू के पास रहकर विद्याध्ययन कर सकता है।

36 वर्ष तक गुरूकुल में रहकर पढ़ने वाले ब्रह्मचारी को **आदित्य ब्रह्मचारी** कहा जाता था। साधारणतः ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि 18 साल के लगभग होती थी, और 25 साल की आयु में शिक्षा पूर्ण कर ली जाती थी। शिखा समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था, उसके बाद वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था।

5.4.2 गृहस्थ आश्रम

सामान्यतः पच्चीस वर्ष की आयु तक ब्रह्म चर्य जीवन में ज्ञानार्जन के उपरांत मनुष्य विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है और धर्मानुकूल आर्थिकोपार्जन करके सुख भोग करता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह उनके लिये भी आवश्यक माना जाता है। दान देना भी उनका कर्त्तव्य है। अन्य तीनों आश्रमों की आवश्यकताओं को भी गृहस्थों द्वारा ही पूरा किया जाता है। साथ ही मानवमात्र के अलावा वातावरण में विद्यमान अन्य जीवों का भरण–पोषण का दायित्व भी गृहस्थ आश्रम पर होता है। देवयज्ञ, अतिथि यज्ञ के साथ–साथ भूत यज्ञ बलिवैश्वदेव यज्ञ का भी विधान इसी निहितार्थ किया गया है। उसके अपने बच्चे आठ, ग्यारह या बारह साल की उम्र में गुरूकुलों में जाते थे। अतः जो भी ब्रह्म चारी उनके द्वारा पर जाए, उनको यथाशक्ति भिक्षा देना भी उनका कर्त्तव्य था।

पाँच महायज्ञ

देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्म ज्ञ– ये महायज्ञ थे, जिनका अनुष्ठान गृहस्थ के लिए आवश्यक होता था।

देवयज्ञ में व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल अग्निकुण्ड में अग्नि जलाकर घृत के साथ विविध सामग्रियों की आहुति देता है। और सूर्य, वायु, अग्नि एवं पृथ्वी आदि प्राकृतिक शक्तियों के ऋण को उतारता है। प्राकृतिक शक्तियों से मनुष्य जो ग्रहण करता है, देवयज्ञ द्वारा वह आंशिक रूप से उसका प्रतिदान करने का प्रयत्न करता है।

पितृ ऋण में पितरों के प्रति सम्मान प्रकट किया जाता है और उनकी सेवा की जाती है। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना, सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंश परंपरा के आगे बढ़ाना तथा पितरों के गुणों के स्मरण कर उन्हें श्रद्धा देना पितृ ऋण से उत्ऋण होने का माध्यम है। श्राद्ध एवं पितृतर्पण का विधान किया गया। वानप्रस्थ और संयासी भी गृहस्थ के लिए पितर हैं उन्हें सम्मान देना तथा उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी पितृयज्ञ का एक महत्वपूर्ण अंग है।

नृयज्ञ को मनुष्य यज्ञ और अतिथियज्ञ भी कहते थे। बौधायन धर्मसूत्र के

अनुसार अतिथि चाहे प्रिय हो अथवा अप्रिय गृहस्थ को उसकी सेवा करनी चाहिए। जो गृहस्थ को उसकी सेवा करनी चाहिए। जो गृहस्थ अतिथि को एक रात अपने घर पर ठहराये, वह सब पार्थिव सुखों को प्राप्त करता। दो रात ठहराने पर अंतरिक्ष के सुखों की प्राप्ति तथा तीन रात ठहराने पर दिव्य सुख की प्राप्ति होती है। चार रात ठहराने पर परावत (असीम) सुख मिलते है ओर इससे अधिक ठहराने पर जो सुख मिलता है उसका बयान ही नहीं किया जा सकता। ध्यातव्य है कि प्राचीन काल में सन्यासी भ्रमणशील होते थे। अतः उनका सेवा सत्कार गृहस्थ का कर्त्तव्य था।

भूतयज्ञ द्वारा सब प्राणियों का पालन पोषण का जो कर्त्तव्य है, उसका प्रतीक रूप में पालन किया जाता है। गृहस्थ के घर में जो भी भोजन बने, उसका एक अंश विविध प्राणियों के लिये पृथक् रख दिया जाता था, और उन्हें अर्पित करके ही गृहस्थ स्वयं भोजन करता था।

ब्रह्मयज्ञ के संदर्भ में बताना आवश्यक है कि ब्रह्मज्ञान को कहते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त ज्ञान को गृहस्थ विस्मृत नहीं करता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य के स्वधर्म में अध्ययन भी सम्मिलित है। दैनिक अनुष्ठान में वेदशास्त्रों की शिक्षाओं को गृहस्थ स्मरण करता है और धर्मानुकूल गृहस्थ जीवन का पालन करता है।

गृहस्थों के प्रकार : प्राचीन स्मृतिकारों द्वारा गृहस्थों का वर्गीकरण किया गया है। वह संभवतः त्याग और अपरिग्रह संबंधी निम्नलिखित वर्गीकरण केवल ब्राह्मणों के लिये ही हों।

1. **कुसूल धान्य :** जो अपने परिवार के लिए बारह दिनों का भोजन रखे।

2. **कुम्भ धान्य :** जो छहः दिनों के लिये भोजन रखे।

3. **त्र्यहिक :** जो मात्र तीन दिनों का भोजन रखे।

4. **अश्वस्तनिक :** जिनके पास केवल आज का ही भोजन हो।

मनुस्मृति में कुसूलधान्य, कुम्भधान्य, अश्वस्तनिक और कापोतीमाश्रित गृहस्थों का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारतीय चिंतक धन के अपरिग्रह (धन को संचित न करना) आवश्यक समझते थे। यह स्वाभाविक लगता है कि वैश्यों के लिये यह आदर्श व्यवहार नहीं था, यद्यपि उनसे भी यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने धन या अन्न आदि को समाज की धरोहर समझकर अपने पास रखें।

5.4.3 वानप्रस्थ आश्रम

मनु के अनुसार जब मनुष्य के बाल सफेद होने लगें और उसके पौत्र हो

जाएं, तो वह गृह का त्याग कर जंगल में चला जाए। कोई वस्तु अपने साथ न ले जाए। पत्नी उसके साथ जाए या न जाए, यह पत्नी की इच्छा पर निर्भर था। पुरुषार्थों की अंतिम परिणति मोक्ष माना गया है। इसी विचार को सामने रखकर यह व्यवस्था की गई थी कि तीनों उच्च वर्णों के लोग वानप्रस्थ आश्रमों में प्रवेश करें। ब्राह्मण तो वानप्रस्थ आश्रम का अनुपालन तो करते ही थे, किन्तु कई ऐसे राजाओं का भी उल्लेख मिलता है, जिन्होंने वृद्ध होने पर स्वेच्छापूर्वक राजसिंहासन का परित्याग कर मुनिवृत्ति को स्वीकार किया था। पालवंश का विग्रहपाल और सेनवंश का सामन्तसेन तथा रघुवंश (कालिदास रचित) के राजा गण इसी श्रेणी में आते हैं।

वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने वालों से यह निर्दिष्ट था कि वे अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखें, ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बितायें, स्वाध्याय करें, मैत्री भाव रखें, सुख–दुःख, मान–अपमान आदि से ऊपर रहें, दया रखें और दान दें। वन में उत्पन्न फल–फूल व अन्नादि का सेवन करें, वस्त्र के लिए वल्कल एवं मृगचर्म का प्रयोग करें। गृहस्थ आश्रम के लिए निर्धारित पाँचों महायज्ञ उसे भी करने होते थे। अतिथि सेवा भी करें, जो भी उसके पास कंद–मूल फल अपने लिये हों। तपस्या एवं स्वाध्याय में लीन होकर वे अध्यात्म चिंतन करके स्वयं का उत्सर्ग करते हैं, वन के आश्रम में वानप्रस्थी पास आये ब्रह्मचारी बालकों को विद्यादान देते थे।

5.4.4 संन्यास आश्रम

मनुष्य के जीवन अन्तिम पड़ा संयास आश्रम था। सन्यासी केवल ब्राह्मण ही बन सकते थे, जबकि बौद्धों और जैनों ने सभी को मुनिव्रत ग्रहण करने की अनुमति प्रदान की है। जिस प्रकार का अकिञ्चन जीवन संन्यासी को बिताना होता था, वह केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिये सम्भव था जो कि एक त्यागमय और उच्च आदर्शमय जीवन के स्वामी हों। इसीलिए केवल ब्राह्मण को ही परिव्राजक बनने की अनुमति दी गई। प्रायः पचहत्तर साल की आयु में संन्यास आश्रम की व्यवस्था की गई है। संयासी की स्थिति समाज में श्रेष्ठ मानी गई। मनु के अनुसार तीनों ऋणों से उऋण व्यक्ति ही संयास ले सकता था अन्यथा नरम का भागी होगा।

चूँकि संयासी की साधना मोक्ष प्राप्ति की है, इसलिए उसे रागद्वेष तथा माया–मोह से पृथक रहना होगा। सबके प्रति समभाव हो, किन्तु एकाकी व अनासक्त हो। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का उसके जीवन में कोई स्थान न हो। यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) और नियमों (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान) का उसे पालन करना होता था। पंच महायज्ञों के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं थी। उसे स्वधर्म के बोध को बनाये रखने के लिए वेदों, शास्त्रों का स्वाध्याय आवश्यक था।

वह परिव्रजनशील था। अल्बरूनी के अनुसार चौथा आश्रम जीवन के अन्त तक चलता है। उनके संयासी के शरीर पर गेरूआ वस्त्र और हाथ में दण्ड रहता

था। वे ईर्ष्या, द्वेष, शत्रु, मित्र भाव से दूर और काम, क्रोध, लोभ, मोह से परे रहते हैं। भ्रमण करते हुए वे एक गाँव में एक दिन से अधिक नहीं ठहरते तथा एक नगर में पाँच दिन से अधिक नहीं ठहरते थे। मिली भिक्षा की अगले दिन के लिये नहीं बचाते थे और निरन्तर मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

सन्यास आश्रम में स्त्री प्रवेश संबंधित विधान

स्त्रियाँ सन्यास आश्रम में प्रवेश नहीं लेती थी। इस प्रावधान का आरंभ केवल बौद्ध धर्म में पृथक भिक्षुणी संघ की स्थापना करके किया गया था। कौटिल्य ने स्त्रियों को परिवज्रिका बनाने का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। किंतु प्राचीन साहित्य में ब्रह्मवादिनी, तपस्विनी तथा यति कहलायी जाने वाली कई स्त्रियों का उल्लेख मिलता है, जैसे गार्गी, मैत्रेयी, घोषा आदि। वस्तुतः ये स्त्रियाँ वानप्रस्थ थी जो अध्यात्म चिंतन, तपश्चर्या और स्वाध्याय में लगी थी। चूँकि वानप्रस्थ में पति के साथ पत्नी के लिये भी विधान था। अतः ये स्त्रियाँ इसी रूप में आश्रम में रह रही हों। साथ ही कुछ अन्य उदाहरण आजीवन ब्रह्मचारिणी, तपश्चर्यों के लिए भी मिलते हैं जैसे समायण में ऋषि कुशध्वज की कन्या वेदवती ने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था।

5.5 आश्रमों का मनोवज्ञानिक आधार एवं महत्व

ब्रह्म चर्य जीवन का आरंभ उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार से होता था। यह माना जाता था कि उपनयन द्वारा मनुष्य का दूसरा जन्म होता है। जिस प्रकार माता बच्चे को नौ मास तक गर्भ में रखकर उसे जन्म देती है, उसी प्रकार गुरू ब्रह्म चारी को अपने गर्भ (सान्निध्य) में रखकर उसके दूसरा जन्म देता है। इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के लोगों के द्विज या द्विजन्मा भी कहा जाता था। ब्रह्म चारी के लिए आवश्यक था कि वह इन्द्रियों को वश में रखकर, तप और संयम का पालन करते जीवन व्यतीत करे तभी विद्यार्जन में मन एकाग्र हो पाता है।

गृहस्थ जीवन में मनुष्य सम्पत्ति का अर्जन तथा संचय कर सकते थे, परन्तु धर्मानुकूल ढंग से। वह अपने समय तथा शक्ति का उपयोग धन के उपार्जन के लिये अवश्य करता था, पर यह आमदनी केवल उसके सुख भोग के लिये ही नहीं होती थी। अपने परिवार जनों के अतिरिक्त उसे समाज के अन्य अंगों की आवश्यकताओं को भी पूरा करना होता था। चूंकि उसके बच्चे भी बालपन में ही गुरूकुल चले जाते थे। अतः उनके पालन पोषण की जिम्मेदारी अब उनके ऊपर नहीं रह जाती थी। गृहस्थ पुरुष अथवा स्त्री ब्रह्म चारियों को प्रसन्नतापूर्वक भिक्षा देता था, क्योंकि वह जानता था कि उसकी अपनी सन्तान भी इसी प्रकार किसी अन्य गृहस्थ के पास भिक्षा के लिए गई होगी।

गृहस्थ जीवन में पाँच महायज्ञों के पीछे यह मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक,

सामाजिक आधार पर यह है कि प्रत्येक मनुष्य देवताओं, पितरों, ऋषियों और अपने साथ के अन्य मनुष्यों का ऋणी होता है। इन ऋणों से उऋण होना सब मनुष्यों का कर्तव्य है। सूर्य, वायु, अग्नि, पृथिवी आदि प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकृत स्वरूप (जो ऋग्वैदिक काल के धार्मिक जीवन के आधार थे) को प्राचीन भारतीय देवता माने जाते थे। चूंकि सूर्य प्रकाश, अग्नि, ऊष्मा, वायु प्राणाधार एवं पृथ्वी उसे पोषण के लिए अन्न–जल देती हैं– अतः इन सबका मनुष्य ऋणी है। अतः देवयज्ञ द्वारा ऋणों से उऋण हो सकता है। यज्ञ से वायु शुद्ध होती है, धूम से मेघ बनते हैं जिससे पृथ्वी जल से सिंचित होता है। मनुष्य, अपने पूर्व पुरुषों का ऋणी होता है, क्योंकि वह उन्हीं के द्वारा जीवन प्राप्त करता है। इस ऋण से वह सन्तोनोत्पत्ति करके पितृ ऋण चुकाता है। साथ ही अपने पितरों के गुणों के स्मरण करके श्रद्धा व्यक्त करता है। नृयज्ञ का मूल तत्व यही है कि गृहस्थ अन्य मनुष्यों की सेवा के लिये सदा तत्पर रहे। प्राचीन समय में संन्यासी या परिव्राजक किसी एक स्थान पर न रहकर सदा भ्रमण रहते थे। उनके पास अपनी कोई भी सम्पत्ति नहीं होता था। उनका एकमात्र कार्य परोपकार तथा सब कोई को सन्मार्ग का प्रदर्शन करना होता था। किन्तु उनकी भौतिक आवश्यकताएँ भी होती थी, जो गृहस्थों द्वारा पूरी की जा सकती थीं। भूतयज्ञ के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भारत के प्राचीन विचारक प्राणिमात्र में आत्म–भावना रखते थे। जो नाना प्रकार के जीव जन्तु और पशु पक्षी संसार में विद्यमान हैं, अपितु उनमें भी उसी विश्वात्मा का निवास है, जो मनुष्यों में है, यह विचार भारत में प्रायः सभी धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों को स्वीकार्य था। यदि मनुष्य पशुओं एवं अन्य प्राणियों का अपने सुख के लिए उपयोग करता है, तो उनके प्रति उसके कुछ कर्तव्य भी हो जाते हैं। उल्लेखनीय है कि सम्राट अशोक के अभिलेख में धम्म को परिभाषित करते हुए उसके प्राणिनाम्, भूतानाम् दोनों के ही प्रति अहिंसक होने की बात कही–इससे प्राणिमात्र में आत्म–भावना की बात और भी सृदृढ़ होती हम पाते हैं। वर्तमान समय में जैव–विविधता (Bio-diversity) के अध्ययन का प्रचलन हमारे प्राचीन भारतीय मनीषियों के ही चिंतन की उपज है।

वानप्रस्थ आश्रम के विधान के पीछे प्राचीन भारतीय चिंतकों का मनोवैज्ञानिक आधार यह समझ में आता है कि मानव जीवन का उद्देश्य संसार के भौतिक सुखों का उपभोग ही नहीं है, ये सुख मनुष्य के लिये आवश्यक हैं, परन्तु एक निश्चित अवधि तक ही, और मनुष्य का परम लक्ष्य मोक्ष की साधना करना है। मनुष्य को हमेशा घर–गृहस्थी के झंझटों में ही नहीं फंसे रहना चाहिये, बल्कि वृद्धावस्था में अरण्यक आश्रम में रहकर त्याग, तप, स्वाध्याय और विद्यादान में अपने समय को लगाना चाहिए। सन्यास आश्रम अनासक्त भाव से मोक्ष की ओर अग्रसर होते मानव जीवन की चरम परिणति है।

5.6 सारांश

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है।

इससे व्यक्ति का चहुमुखी विकास होता है। भारतीय व्यवस्था का स्तम्भ माना जाता है। प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में चार वर्णो के समान चार आश्रमों का भी बहुत महत्व था। ये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम थे। आश्रमों की संकल्पना का आधार था—प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य देवताओं, प्राकृतिक शक्तियों, ऋषियों, पितरों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। इनके बिना उसके जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। चारों आश्रमों में रहकर विनिर्दिष्ट पुरुषार्थ करते हुए वह तीनों ऋणों देवऋण, पितृऋण एवं नृऋण को उतारने का क्रमिक प्रयास करता है। भारतीय दर्शन में गृहस्थ आश्रम को अधिक महत्व दिया गया है। वसिष्ठ सूत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र मेंजाकर विश्राम पाती है, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर आश्रित रहते है।

5.7 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय आश्रम व्यस्था के महत्व पर टिप्पणी लिखें।
2. वानप्रस्थ आश्रम के महत्व का वर्णन करें।
3. सन्यास आश्रम की विवेचना कीजिए।

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
2. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
3. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई –6 संस्कार

इकाई की रूपरेखा

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 संस्कार का अर्थ

6.3 षोडश संस्कार

6.3.1 गर्भाधान

6.3.2 पुंसवन

6.3.3 सीमन्तोन्नयन

6.3.4 जातकर्म

6.3.5 नामकरण

6.3.6 निष्क्रमण

6.3.7 अन्नप्राशन

6.3.8 चूड़ाकरण

6.3.9 कर्णवेध

6.3.10 विद्यारम्भ

6.3.11 उपनयन

6.3.12 वेदारम्भ

6.3.13 केशान्त

6.3.14 समावर्तन

6.3.15 विवाह

6.3.16 अन्तेष्टि

6.4 सारांश

6.5 बोध प्रश्न

6.6 संदर्भ ग्रन्थ

6.0 प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक व्यवस्था से संस्कारों का विधान व्यक्ति के शरीर को परिष्कृत अथवा पवित्र बनाने के उद्‌देश्य से किया गया ताकि वह वैयक्तित्व एवं सामाजिक विकास के लिये उपयुक्त बन सके। शवर का विचार है कि संस्कार वह क्रिया है जिसके सम्पन्न होने पर कोई वस्तु किसी उद्‌देश्य के योग्य बनती है। शुद्धता, पवित्रता, धार्मिकता एवं आस्तिकता संस्कार को प्रमुख विशेषताये है। ऐसी मान्यता है कि मनुष्य जन्मना असंस्कृत होता है किन्तु संस्कारों के माध्यम से वह सुसंस्कृत हो जाता है। इनसे उसमें अन्तनिर्हित शक्तियों का पूर्ण विकास हो पाता है तथा वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। संस्कार व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं का भी निवारण करते तथा उसकी प्रगति के मार्ग को निष्कण्टक बनाते है। इसके माध्यम से मनुष्य आध्यात्मिक विकास भी करता है। मनु के अनुसार संस्कार शरीर को विशुद्ध करके उसे आत्मा का उपयुक्त स्थल बनाते है। इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व की सर्वागणिक उन्नति के लिए भारतीय संस्कृति में संस्कारों का विधान प्रस्तुत किया गया है।

6.1 उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में संस्कारों के महत्व के विषय में।
- षोडश संस्कारों के विषय में।

6.2 संस्कार

"संस्कार" शब्द सम् उपसर्गपूर्वक **'कृ'** धातु से घ्यञ् प्रत्यय लगाने से बनता है जिसका शाब्दिक अर्थ है परिष्कार, शुद्धता अथवा पवित्रता। इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व की सर्वागणिक उन्नति के लिए भारतीय संस्कृति में संस्कारों का विधान प्रस्तुत किया गया है। **'संस्कार'** शब्द का उल्लेख वैदिक तथा ब्राह्मण साहित्य में नही मिलता। मीमांसक इसका प्रयोग यक्षीय सामग्रियों को शब्द करने के अर्थ में करते है। वास्तविक रूप में संस्कारों का विधान हम सूत्र–साहित्य विशेषतया गृहसूत्रों में पाते है। संस्कार जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सम्पन्न किये जाते थे। अधिकांश गृहासूत्रों में अन्त्येष्टि का उल्लेख नही मिलता। स्मृति ग्रन्थों में संस्कारो का विवरण प्राप्त होता है। इनकी संख्या चालीस तथा गौतम धर्मसूत्र में अड़तालीस मिलती है। मनु ने गर्भधान से मृत्यु–पर्यन्त तेरह संस्कारों का उल्लेख किया है। बाद की स्मृतियों में इनकी संख्या सोलह स्वीकार की गयी। आज यही सर्व प्रचलित है। संस्कारों का उद्‌देश्य मनुष्य का नैतिक उत्थान और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करके जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष तक पहुंचने के योग्य बनाना था। संस्कारों का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से था। वे जीवन भर इस संसार में और आत्मा के

द्वारा परलोक में भी उस घर प्रभाव जलते थे। प्राचीन भारतीयों की धारणा थी कि संस्कारों द्वारा मनुष्य की अध्यात्मिक उन्नति भी होती है। इस प्रकार संस्कारों के द्वारा सांस्सारिक व आध्यपरिपक जीवन में सुन्दर मनुष्य व्यापित किया गया था। सांस्कारों के द्वारा मनुष्य के जीवन में नैतिक गुणों का समावेश होता था। गौतम ने चालीस सास्कारों के साथ–साथ आठ गुणों का भी उल्लेख किया तथा व्याख्या दी कि सांस्कारों के साथ सभी गुणों का आचरण करने वाला व्यक्ति ही ब्रह्म को प्राप्त करता है।

6.3 षोडश संस्कार

संस्कारों की संख्या षोडश है, जो निम्नलिखित है–

1. गर्भाधान
2. पुंसवन
3. सीमन्तोन्नयन
4. जातकर्म
5. नामकरण
6. निष्क्रमण
7. अन्न प्राशन
8. चूड़ाकरण
9. कर्णवेध
10. विधारम्भ
11. उपनयन
12. वेदारम्भ
13. केशान्त
14. समावर्तन
15. विवाह
16. अत्येष्टि

6.3.1 गर्भाधान

यह जीवन का प्रथम संस्कार था जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी पत्नी को

गर्भ में बीज स्थापित करता था। इस संस्कार का प्रचलन उत्तर वैदिक काल से हुआ। सुत्रों तथा स्मृति–ग्रन्थों में इसके लिये उपयुक्त समय एवं वातावरण का उल्लेख मिलता है। इसके लिए आवश्यक था कि स्त्री को शुद्ध ऋतुकाल में है। ऋतुकाल के बाद की चाथी से सोलहवीं रात्रियां गर्भाधान के लिये उपयुक्त बताई गयी है। अधिकांश गृहसूत्रों तथा स्मृतियों में चौथी रात्रि को शुद्ध माना गया आठवीं, पन्द्रहवीं एवं तीसरी रात्रियों में गर्भाधान वर्जित था। सोलह रात्रियों में प्रथम चार, ग्यारह एवं तेरह निन्दित कही गयी है तथा शेष दस को श्रेयस्कर बताया गया है। गर्भाधान के निमित्त रात्रि का समय ही उपयुक्त था, दिन में यह कार्य वर्जित था। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि दिन में गर्भ धारणर करने वाली ी से अभागी, दुर्बल एवं अल्पायु सन्ताने उत्पन्न होती है। किन्तु जो व्यक्ति अपनी पत्नी से दूर विदेश में रहते थे उनके लिये बस नियम में छूट प्रदान की गयी। गर्भाधान के लिए रात्रि का अन्तिम पहर भी अभीष्ट माना गया। समरात्रियों में गर्भाधान होने पर पुत्र एवं विषम में कन्या उत्पन्न होती है, ऐसी मान्यता थी। प्राचीन काल में नियोग प्रथा भी प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत स्त्री अपने पति की मृत्यु अथवा उसके नपुंसक होने पर उसके भाई अथवा सगोत्र व्यक्ति से सन्तानोत्पत्ति के निमित्त गर्भाधान करवाती थी। किन्तु अधिकांश ग्रन्थों में इसकी निन्दा की गयी है। मनु ने इसे **"पशुधर्म"** बताया है।

गर्भाधान प्रत्येक विवाहित पुरूष तथा स्त्री के लिए पवित्र एवं अनिवार्य संस्कार था जिसका उद्देश्य स्वस्थ्य, सुन्दर एवं सुशील सन्तान प्राप्त करना था। पाराशर ने यह व्यवस्था दी कि जो पुरूष स्वस्थ्य होने पर भी ऋतुकाल में अपनी पत्नी से समागम नही करता है वह बिना किसी सन्देह के भ्रूण हत्या का भागी है। स्त्री के लिये भी अनिवार्य था कि ऋतुकाल के स्नान के बाद अपने पति के पास जाये। पराशर के अनुसार ऐसा न करने वाली स्त्री का दूसरा जन्म शुकरी के रूप में होता हैं। गर्भाधान पुत्र प्राप्ति के लिये किया जाने वाला प्रथम एवं महत्वपूर्ण संस्कार था। सामाजिक तथा धार्मिक दोनों ही दृष्टि से इसका महत्व था। वैदिक युग के लिये स्वस्थ्य एवं बलिष्ठ सन्तानें उत्पन्न करना प्रत्येक आर्य का कर्तव्य था। निःसंतान व्यक्ति आदर का पात्र नहीं था। ऐसी मान्यता थी कि जिस पिता के जितने अधिक पुत्र होगें वह स्वर्ग में उतना ही अधिक सुश प्राप्त करेगार। पितृऋण से मुक्ति भी सन्तानोत्पन्न करने पर ही मिलती हैं।

6.3.2 पुंसवन

गर्भाधान के तीसरे माह में पुत्र प्राप्ति के निमित यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। पुसंवन का अर्थ है "वह अनुष्ठान या कर्म जिससे पुत्र की उत्पत्ति हों। इस संस्कार के माध्यम से उन देवताओं को पूजा था जो गर्भ में शिशू की रक्षा करते थे। चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र में होने पर यह संस्कार सम्पन्न होता था क्योंकि यह समय पुत्र प्राप्ति के लिए उपयुक्त माना गया। रात्रि को समय वटपृक्ष की छात्र

का रस निचोड़कर स्त्री कथी नाक के दाहिनी छिद्र में डाला जाता था। इससे गर्भपात की आशंका समाप्त हो जाती तथा सभी विघ्न बाधायें दूर हो जाती थी। हिन्दू समाज में पुत्र कर बड़ा ही महत्व था। उसी के माध्यम से परिवार की निरन्तरता बनी रहती थी। इस प्रकार पुंसवन संस्कार का उद्देश्य परिवार तथा इसके माध्यम से समाज का कल्याण करना था।"

6.3.3 सीमन्तोन्नयन

गर्भाधान के चौथे से आठवें मास तक यह संस्कार सम्पन्न होता था। इसमें स्त्री के केशों को ऊपर उठाया जाता था। ऐसी अवधारणा थी कि गर्भवती स्त्री के शरीर के प्रेतास्माये नाना प्रकार की बाधा पहुंचाती है जिनके निवारण के निमित्त कुछ धार्मिक कृत्य किये जाने चाहिये। इसी उद्देश्य से इस संस्कार का विधान किया गया। इसके माध्यम से गर्भवती नारी की समृद्धि भूण की दिर्घायु की कामना की जाती थी। इस संस्कार के सम्पादित होने के लिद स्त्री व्रत रहती थी। पुरूष मातृ पूजा करता था तथा प्रजापति देवताओं को आहुतियां दी जाती थी। इस समय वह अपने साथ कच्चे उदुम्बर फलों का एक गुच्छा तथा सफेद चिन्ह वाले शाही के तीन काटे रखता था। बाद में गर्भिणी स्त्री के शरीर पर एक लाल चिन्ह बनाया जाने लगा जिससे भूत, प्रेतादि भयभीत होकर उससे दूर रहे। इस संस्कार के साथ स्त्री को सुख तथा सान्तवना प्रदान की जाती थी।

6.3.4 जातकर्म

शिशु के जन्म के समय जातकर्म नामक संस्कार होता था। सामन्यतः बच्चे के नार काटने के पूर्व हो इसे किया जाता था। उसका पिता सविधि स्नान करके उसके पास जाता तथा पुत्र को स्पर्श करता एवं सूंघता था। इस अवसर पर वह उसके कानों में आशीर्वादात्मक मंत्रों का उच्चारण करता था जिसके माध्यम से दीर्घ आयु एवं बुद्धि की कामना की जाती थी। तत्पश्चात् बच्चे को मधु तथा घृत चटाया जाता था, फिर प्रथम बार वह मां का स्तनपान करता था। संस्कार की समाप्ति के बाद वह ब्राह्मणों को उपहार दिये जाते एवं भिक्षा बांटी जाती थी। सभी माता एवं शिशु के दीर्घ एवं स्वास्थ्य जीवन की कामना करते थे।

6.3.5 नामकरण

बच्चे के जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन ''नामकरण'' संस्कार होता था जिससे उसका नाम रखा जाता था। प्राचीन हिन्दू समाज में नामकरण का अत्यन्त महव्पूर्ण स्थान था। बृहस्पति के अनुसार नाम ही लोक व्यवहार का प्रथम साधन है। यह गुण एवं भाग्य का आधार हैं इसी से मनुष्य यक्ष प्राप्त करता है। प्राचीन शास्त्रों में इस संस्कार का विस्तृत विवरण मिलता है। इस संस्कार के निमित शुभ तिथि, नक्षत्र एवं मुहुर्त का चयन किया जाता था। यह ध्यान रखा जाता था कि

बच्चे का नाम परिवार, समुदाय एवं वर्ण का नाम भी बच्चे को प्रदान किये जाते थे। कन्या का नाम मनोहर, मंगल सूचक, स्पष्ट अर्थ वाला तथा अन्त में दीर्घ अक्षर वाला रखे जाने का विधान था। मनु के अनुसार बच्चे का नाम उसके वर्ण का घोतक होना चाहिए। उनके अनुसार ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का धनसूचक तथा शूद्र का निन्दा सूचक होना चाहिए। विष्णु पुराण में उल्लेख मिलता है कि 'ब्राह्मण अपने नाम के अन्त में शर्मा, क्षत्रिय वर्मा, वैश्य गुप्त तथा शुद्र दास लिखें। नामकरण संस्कार के पूर्व घर को धोकर पवित्र किया जाता था। माता तथा शिशु स्नान कष्रते थे। तत्पश्चात् माता बच्चे का सिर जल से भिगों कर तथा साफ कपड़े से उसे ढंककर उसके पिता को देती थी। फिर प्रजापति नक्षत्र देवताओं, अग्नि, सोम आदि को बलि दी जाती थी। पिता बच्चे की श्वास का स्पर्श करता था तथा फिर उसका नामकरण किया जाता था। संस्कार के अन्त में ब्राह्मण को भोज दिया जाता था।

6.3.6 निष्क्रमण

निष्क्रमण कर्णवेध संस्कार बच्चे के जन्म के तीसरे अथवा चौथे माह से यह संस्कार सम्पन्न होता था जिसमें उसे प्रथम बार घर से बाहर निकाला जाता था। यह संस्कार माता पिता सम्पन्न करते थे। उस दिन घर के आंगन में एक चौकार भाग को गोबर तथा मिट्टी से लीपा जाता था। उस पर स्वास्तिक का चिन्ह बनाकर धान छीट दिया जाता था। बच्चे का स्नान कराकर, नये पधिान में यज्ञ के सामने करके वेदमन्त्रों का पाठ किया जाता था। फिर मां बच्चे को लेकर बाहर निकलती थी तथा उसे प्रथम बार सूर्य का दर्शन कराया जाता था। इसी के साथ उसका घर के बाहरी वातावरण से भी सम्पर्क होता था।

6.3.7 अन्नप्राशन

अन्न प्राशन संस्कार बच्चे के जन्म के छठें माह में अन्नप्राशन नामक संस्कार होता था जिसमें प्रथम बार उसे पका हुआ अन्न खिलाया जाता था। इसमें दूध, घी, दही तथा पका हुआ अन्न खिलाया जाता था। इसमें दूर्ध, घी दही तथा पका हुआ चावल खिलाने का भी विधान मिलता है। उसकी वाणी में प्रवाह लाने के लिये भारद्वाज पक्षी का मास तथा उसमें कोमलता लाने के मछली खिलाई जाती थी। इसका उद्देश्य बच्चे को शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टि से स्वस्थ्य बनाना था। बाद में केवल दूध और चावल खिलाने की प्रथा प्रचलित हो गयी। अन्नप्राशन संस्कार के दिन भोजन को पवित्र ढंग से वैदिक मंत्रों के बीच पकाया जाता था। सर्वप्रथम वाग्देवी को आहुति दी जाती थी। अन्त में बच्चे का पिता सभी अन्नों को मिलाकर बच्चे को उसे ग्रहण कराता था। तत्पश्चात् ब्राह्मणों को भोज देकर इस संस्कार की समाप्ति होती थी। इस संस्कार का उद्देश्य यह था कि एक उचित समय पर

बच्चा मां का दूध पिना छोड़कर अन्नादि से अपना निर्वाह करने योग्य बन सके।

6.3.8 चूड़ाकरण

इस संस्कार में पहली बार बालक के बाल काटे जाते थे। गृहसूत्रों के अनुसार जन्म के प्रथम वर्ष की समाप्ति अथवा तीसरे वर्ष की समाप्ति के पूर्व यह संस्कार सम्पन्न किया जाना चाहिए। आश्वलायन का विचार है कि चूड़ाकर्म तीसरे या पांचवें वर्ष में होना प्रशंसनीय है किन्तु इसे सातवें वर्ष अथवा उपनयन के समय भी किया जा सकता है। पहले यह संस्कार घर में ही होता था किन्तु बाद में इसे किसी मन्दिर में देवता के सामने किया जाने लगा। इसके लिये एक शुभ दिन तथा मुहुर्त निश्चित किया जाने लगा। तदुपरान्त मां बच्चे को स्नान करवाकर नये वस्त्रों में लेकर यज्ञीय अग्नि के पश्चिम की ओर बैठती थी। कटे हुये बाल को गाय के गोबर में छिपा दिया जाता था। बालक के सिर पर मक्खन अथवा दही का लेप किया जाता था। इस संस्कार के पीछे यह भावना थी कि बच्चे को स्वच्छता और सफाई का ज्ञान कराया जा सके जो स्वास्थ्य के लिये आवश्यक थे।

6.3.9 कर्णवेध

इस संस्कार के बालक का छेदकर उसमें बाली तथा कुण्डल पहना दिया जाता था। इसे बालक के जन्म के दशवें से लेकर पांचवें वर्ष तक बताते है। विभिन्न प्रकार के इस संस्कार में सूयईयों का प्रयोग करते है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के लिए क्रमशः रजत, स्वर्ण, रत्न तथा लौह सूईयों का प्रयोग किया जाता था। यह धार्मिमक रीति रीवाजों से बच्चे को पूर्व दिशा की ओर मुंह करके पैनया जाता था तथा वैदिक मंत्रों के बीच पहले दांया तथा बाद में बाया कान छेदकर सम्पन्न किया जाता था। कर्ण वेधन संस्कार बच्चे को भविष्य में स्वस्थ्य रखने के उद्देश्य से हुआ।

6.3.10 विद्यारम्भ

जब बच्चे का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता था, तब यह संस्कार सम्पन्न कराया जाता था जिसमें उसे अक्षरों का बोध कराया जाता था। इसी काल में कुछ लोग अक्षरम्य भी कहते है। इसका समय जन्म के लेकर पांचवे वर्ष से लेकर उपनयन संस्कार तक पूर्व। विधारम्भ संस्कार एक शुभ दिन एवं मूहूर्त में सम्पन्न होता था। उस दिन बच्चे को स्नान कराकर सुगंधित द्रव्यों एवं वस्त्रों से सजाया जाता था। पहले देवी या देवताओं की पूजा होती थी। उसके बाद शिक्षक पूर्व दिशा में बिठाकर यही पर जातक में ओ, रचति, नमः सिद्धन्त आदि लिखाकर विधारम्भ करवाता था। विधारम्भ सम्बन्ध जातक की बुद्धि और ज्ञान से था। इससे उसमें अन्तनिर्हित बौद्धिक गुण प्रभर होकर सामने आते थे।

6.3.11 उपनयन

उपनयन का शाब्दिक अर्थ है जातक को गुण के बाद ले जाना। इस संस्कार की शिक्षा पर उसके भावी जीवन का अच्छा व बुरा होना निर्भ था। उसके भावी जीवन पर ही समाज की उन्नति या अवनति निर्भर था। गृहसूत्रों में ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार 8 वर्ष की क्षत्रिय ग्यारह वर्ष तथा वैश्य बारह वर्ष की अवस्था में किया जाता था। अधिकतम आयु निर्धारित समय पर जिस उच्च वर्ण जातकों का उपनयन नही होता था, उन्हें व्रात्य कहा जाता था और शिष्ट समाज में उनको निदंनीय माना जाता था। गृहसूत्रों व स्मृतियों में उपनयन संस्कार का पूरा विवरण मिलता है। इस समय बालक एक मेखला धारण करता था। ब्राह्मण बालक कुंज, क्षत्रिय बरगत का तथा वैश्य गूलर का डण्डा धारण करता था। वह यज्ञोपवीत भी धारण करता था। आचाग्र वास्तव में अध्ययन करने के इच्छुक और ब्रह्मचर्य पालन करने वाले बालकों को ही अपना शिष्य बनाते थे। इस संस्कार के बाद बालक का दूसरा जन्म समझा जाता था। इस संस्कार में बालक को सर्वोच्च ध्येय वेदों का अध्ययन कला होता था। इसका मूल उद्देश्य मुख्यतः शैक्षणिक था। कालांतर में इसका उद्देश्य धार्मिक हो गया तथा इसे एक कर्मकाण्ड के रूप में सम्पादित किया जाने लगा। मनुस्मृति में निहित है कि उपनयन इसलौकिक तथा परलौकिक दोनों जीवन को पवित्र बनाता हैं यदि बालक इस जीवन को आदर्शो से ब्ली काटि आत्मसात् कर लेता तो वह ब्रमाण्ड विद्वान एवं यजल नागरिक बन जाता था।

6.3.12 वेदारम्भ

इसका उल्लेख सर्वप्रथम व्यास स्मृति में किया गया है। वेदों का अध्ययन गायत्री मंत्र द्वारा प्रारम्भ किया जाता था। यह पूर्णयता शैक्षणिक संस्कार था जिसका प्रारम्भ बालक के वेदाध्ययन से होता था। वेदाध्ययन संस्कार के प्रारम्भ में मातृपूजा होती थी तदुपरान्त आचार्य लौकि अग्नि प्रज्जवलित करके विधार्थी को पश्चिम में मुख करके आमीन कराता था। यदि ऋग्वेद का मा अध्ययन करना होता था तो पृथ्वी व अग्नि को घी की आहुतियां दी जाती थी वही यर्जुवेद के अध्ययन में दिशाओं और चन्द्रमा को आहुतियां दी जाती थी। वेदों के प्रारम्भ में सभी देवताओं को आहुतियां अनिवार्य माना जाता था। तत्पश्चात् आचार्य विधार्ग्गि को पढ़ाना प्रारम्भ करता था। मनुस्मृति में वेदाध्ययन के प्रारम्भ व अंत में विधार्थी को ऊँ श्ज्ञब्द का उच्चारण करना चाहिए। क्योंकि प्रारमी में न होने से अध्ययन नष्ट व अंत में न करने से ठहरता नही है।

6.3.13 केशान्त

गुरू के पास रहकर 16 वर्षों तक अध्ययन करते हुए विधार्थी प्रथम बार दाढ़ी मूंछ

बनवाएजाने को केशान्त संस्कार कहा जाता है। इस अवसर पर गुरू को गाय दक्षिणा स्वरूप दी जाती थी। इसी कारण इसे गोदान संस्कार भी कहा जाता है। इस संस्कार के माध्यम से विधार्थी को ब्रह्मचर्य जीवन के व्रतों की एक बार पुनः याद दिलाई जाती थी जिन्हें पालन करने का वह पुनः व्रत लेता था।

6.3.14 समावर्तन संस्कार

गुरूकुल की शिक्षा करने के बाद जब विधार्थी अपने घर वापस लौटता था उसे समार्तन संस्कार सम्पन्न करना कहते थे। इसी के बाद विधार्थी स्नातक बनता था। स्नातक आचार्य का आर्शीवचन एवं उसकी आज्ञा लेकर स्वगृह को प्रस्थान करता था। इस अवसर पर उसे गुरू को दक्षिणा भी देनी पड़ती थी जिसे वह अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार देता था। कभी–कभी गुरू विधार्थी की भकित एवं सेवा से प्रसन्न होकर उसे भी दक्षिणा मान लेता था। समावर्तन संस्कार व्यक्ति को गृहास्थाश्रम में प्रवेश की अनुमति प्रदान करता था।

6.3.15 विवाह

यह प्राचीन हिन्दू में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ इसी संस्कार के होता था। इस संस्कार में वर–वधु यह प्रतिज्ञा करते है कि हमारा चित्त एक सा हो। हमसे किसी प्रकार का भेद–भाव न हो। प्राचीन भारतीय विद्वानों के अनुसार विवाह के दो प्रमुख उद्देश्य थे। पहला मनुष्य विवाह करके देवताओं के लिए यज्ञ करने का अधिकारी हो जाता था और दूसरा पुत्र प्राप्ति हेतु इस प्रकार विवाह अनिवार्य संस्कार बताया गया है। जिसे सम्पन्न करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए धार्मिक व सामाजिक बाध्यता थी। सभी वर्णों के लिए इसे करना आवश्यक माना गया। विवाह के प्रकार स्मृति ग्रन्थों में 8 प्रकारों के विवाह का उल्लेख किया जाता है जिनमें ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच प्रथम चार प्रशस्त तथा अन्तिम चार अप्रशस्त माने जाते है। इसके अलावा समाज में अनुलोम व प्रतिलोम तथा बहुपत्नीत्व व बहुपतित्व विवाह का भी वर्णपन मिलता है।

6.3.16 अन्तोष्टि

मानव जीवन का अंतिम संस्कार अन्त्येष्टि हे जो मृत्यु के समय सम्पादित किया जाता है। इसका उद्देश्य मृतात्मा को स्वर्ग लोक में सुख व शान्ति प्रयास करता है। बौधापान में जन्म के बाद के संस्कारों द्वारा व्यक्ति लोक को जीतता है और इस अत्येष्टि संस्कार के द्वारा वह स्वर्ग को विजय करता है। अत्येष्टि संस्कार प्राचीनता प्रागौतिहासिक काल तक जाती है। उस समय मनुष्य से ही यह मान्यता धारणा थी मृत्यु के समय शरीर का पूर्ण विनाश नही होता बल्कि उसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में बना रहता है। कालान्तर में हिन्दू धर्म ने आत्मा की अमरता

का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। अतः आत्मा की स्वर्ग में शान्ति के विभिन्न विधिपूर्वक यह संस्कार प्रतिपादित किया जाता था।

6.4 सारांश

इस प्रकार समस्त संस्कार का विवेचन करने के उपरान्त तक निष्कर्ष पर पहुंचते है कि इनका आदर्श बड़ा ही उदान्त था। वस्तुतः हिन्दू चिन्तकों ने व्यक्ति के सर्वाड्ग्रीण विमास का ध्यान में रखकर इनका विधान किया। संस्कार निश्चयतः व्यक्ति के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही विमास में सहायक थे। जीवन के विभिन्न चारो पर सम्पादित किये जाने वाले संस्कारों से उसके जीवन में परितकर एवं नित्वार आता था। वह अपनी उन्नति के साथ ही परिवार व समाज की उन्नति करता था तथा धर्मसंगत जीवन व्यतीत करते हुए अन्तगोत्वा मोक्ष की प्राप्ति करता था।

6.5 बोध प्रश्न

1. भारतीय सामाजिक व्यवस्था में संस्कारों के महत्व का वर्णन कीजिए।

2. षोडश संस्कारों पर टिप्पणी लिखिए।

3. विवाह संस्कार पर टिप्पणी लिखिए।

6.6 संदर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास

2. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास

3. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई–7 विवाह

इकाई की रूपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 विवाह की अवधारणा

7.3 विवाह की उत्पत्ति

7.4 विवाह के प्रकार

7.4.1 ब्रहा विवाह

7.4.2 दैव विवाह

7.4.3 आर्ष विवाह

7.4.4 प्राजापत्य विवाह

7.4.5 असुर विवाह

7.4.6 गन्धर्व विवाह

7.4.7 पैशाच विवाह

7.4.8 राक्षस विवाह

7.5 सवर्ण तथा अर्न्तवर्ण विवाह

7.6 अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह

7.7 बहुपत्नीत्व तथा बहुपतित्व विवाह

7.8 नियोग प्रथा

7.9 विधवा विवाह

7.10 सारांश

7.11 बोध प्रश्न

7.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.0 प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता है। विवाह एक संस्कार के साथ ही सामाजिक व्यवस्था का अभिन्न अंग भी होता है। आदि काल से ही यह प्रथा प्रचलन में रही है। धर्मशास्त्रों में विवाह को धार्मिक संस्कार माना गया है जिसमें धर्म का स्थान प्रधान है सामाजिकता एवं वैधानिकता का कथन यज्ञ, होम, मंत्र, पाठ तथा वेदमंत्रों के साथ वैवाहिक क्रिया सम्पन्न करना हिन्दू विवाह संस्कार का मुख्य अंग है। इस धार्मिक आधार में विवाह को अत्यन्त पवित्र तथा उदान्त स्वरूप प्रदान किया। संक्षेप में विवाह प्रारम्भ में केवल एक सामास्य व्यवहार के रूप में प्रचलित हुआ, बाद में इनमें परम्परा और रीति–रीवाज का रूप धारण किया और अंत में एक महत्वपूर्ण धार्मिक संस्कार बन गया।

7.1 उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विवाह के महत्व के विषय में।
- विवाह के विभिन्न प्रकारों के विषय में।
- अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह एवं नियोग प्रथा के विषय में।

7.2 विवाह की अवधारणा

ऐतिहासिक काल में जिस समय मनुष्य अलग्य था, ऐसे समाज की कल्पना भी की जा सकती है जिसमें नियमित रूप से विवाहन होते थे और नर–नारी स्वेच्छाचारी होते है। तथापि भारतीय इतिहास में मौर्र ऐसा उदाहरण नही मिलता जिसके आधार पर निश्चयपूर्वक यह कहा जा सके कि किसी समय विशेष में भारतीय समाज में विवाह संस्था न थी, जो भी हो ऋग्वैदिक काल में विवाह एक पवित्र एवं आवश्यक संस्कार समझा जाने लगा. था। इसका ध्येय नर–नारी की गृहण्य जीवन में प्रतिष्ट कराना था। वैयक्कि तथा समाजिक जीवन विकास के लिए विवाह पूर्णतया आवश्यक समझा जाता था। विविध कारणों में वैकि काल में पुत्रों की आवश्यकता समझी जाती थी। संतति और विशेष रूप से पुत्र की प्राप्ति के लिए वैदिक युग ऋग्वेद में बहुसंख्यक प्रार्थनाएं यह प्रमाणित करती है कि विवाह का उद्‌देश्य संतानोत्पित्ति है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विवाह ने धीरे–धीरे एक धार्मिक संस्कार का रूप ले लिए। तैन्तिरीय संहिता में विवाह करने के बाद ही मनुष्य पूर्ण माना जाता था। क्योंकि पत्नी पुरूष का अंग है। वैदिक काल के बाद अधिकाधिक बल के साथ विवाह संस्कार की अनिवार्यता का प्रतिपादन होने लगा। धर्मसूत्र (आपम्तम्ब) में यज्ञ कर्म में पति और पत्नी के महत्व की व्याख्या की गई है।

7.3 विवाह की उत्पत्ति

विवाह शब्द ”वि“ उपसर्गपूर्वक ”वाह“ धातु से बनता है। जिसका शाब्दिक अर्थ है ”बधु को वर के घर ले जाना या पहुँचाना।“ किन्तु अति प्राचीन काल से यह शब्द सम्पूर्ण संस्कार को घोषित करता है। भारतीय समाज में इसे एक पवित्र धार्मिक संस्था के रूप में मान्यता दी गई है। जिसका उद्देश्य पति और पत्नी के सहयोग से विभिन्न पुरूषार्थो को पूरा करना था। हिन्दू धारणा में अकेले व्यकित का जीवन एंकागी है तथा वह पूर्ण तभी होता है जब पत्नी का सहयोग उसे प्राप्त हो जाय। जब समाज में तीन ऋणों का सिद्धांत लोकप्रिय हुआ, तब विवा संस्कार को अधिक मान्यता एवं पवित्रता प्राप्त हुई क्योंकि इसके विना व्यक्ति पित्रृ0ण में मुक्त नही हो सकता था। पाश्चात्य संस्कृति में विवाह जहां एक संविदा मात्र माना जाता है। वही हिन्दू संस्कृति में इसे कभी भी न समाप्त होने वाली संस्था माना गया। इसका आदर्श मात्र यौनमुख प्राप्त करने से कहीं बढ़कर था। इसके माध्यम से व्यक्ति अपना तथा साथ ही साथ समाज का भी पूर्ण एवं सम्पक् विकास करता है। इस प्रकार विवाह को एक अनिवार्य संस्कार बताया गया जिसे सम्पन्न करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए धार्मिक तथा सामाजिक बाध्यता थी। सभी वर्गो के लिए इसे करना आवश्यक माना गया है।याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट लिखा है–”ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी हो, यदि वह विवाहित नही है तो कर्म के योग्य भी नही है।“

7.4 विवाह के प्रकार

स्मृति ग्रन्थों में विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है। ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच। प्रथम चार विवाह को प्रशान्त तथा अंतिम चार को अप्रशान्त कहा जाता है। इसका विवरण इस प्रकार से मिलता है।

7.4.1 ब्रह्म विवाह

विवाहका सर्वोत्तम प्रकार ब्रह्म विवाह को माना गया है। जिसमे पिता सावधानी पूर्वक वेदज्ञ एवं शीलवान वर का चयन करने के बाद उसे अपने घर बुलाता था। तथा उसकी पूजा करके वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कन्या को उसे प्रदान करता थां इस अवसर पर उसे कुछ उपहार भी देता था। वर के कुल आचरण, विद्या, स्वास्थ्य एवं उसकी धर्मनिष्ठा पर भी ध्यान रखा जाता था। स्मृतियों के विवरण से ज्ञात होता है कि यह विवाह कन्या में वयस्क हो जाने के बाद ही किया जाता था। कन्या के पिता इस प्रदन्त उपहार एक औपचारिक मात्र था, न कि कोई बाध्यता। स्मृति ग्रन्थ में इस विवाह की अत्याधिक प्रंशसा करते है। यह स्वेच्छता एवं बिना किसी दबाव के सम्पन्न होता था। भारत में आज भी यही सर्वाधिक प्रचलित विवाह प्रकार है।

7.4.2 दैव विवाह

इसके अर्न्तगत कन्या का पिता एक यज्ञ का आयोजन करता था जिसमें बहुत से पुरोहित आमंत्रित किये जाते थे। जो पुरोहित यज्ञ का अनुष्ठान विधिपूर्वक करा लेता था, उसी के साथ कन्या का विवाह कर दिया जाता था। चूँकि यह विवाह देवताओं के लिए यज्ञ किये जाते समय सम्पन्न होता था। अतः दैव की संज्ञा प्रदान की गई। मनुस्मृति में कहा गया है कि "यज्ञ में विधिवत् कर्म करते हुए ऋत्विज को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कन्या प्रदान करना दैव विवाह है।"वैदिक यज्ञ लगभग ईसा पूर्व 4शती तक लोकप्रिय रहे। ये प्रायः दीर्धमाल तक चलते थे। पिता पुरोहितों में लम्बी अवधि तक सम्बन्ध रहने के कारण उनमें से किसी एक में गुणों पर मुग्ध होकर उसे अपनाी कन्या के लिए चुन लेता था। यह प्रथा वैदिक यज्ञों के साथ ही समाप्त हो गई।

7.4.3 आर्श विवाह

इस विवाह में कन्या के पिता वर को कन्या प्रदान करने बदले में एक जोड़ी गाय और बैल प्राप्त करता था। ताकि वह याज्ञिक क्रियाएँ सम्पन्न कर सके। यह विवाह मुख्यता पुरोहित परिवार में ही प्रचलित था। अल्टेकर महोदय ने वर द्वारा कन्या के पिता को दिए गये गाय–बैल को कन्या का मूल्य मानते हुए इसे आसुर विवाह के परिष्कृत अवशेष बताते है। किन्तु हिन्दू शास्त्रकार इसे कन्या मूल्य नही मानते है। मनुस्मृति सीमाकार कुल्लुक मह का विचार है कि यह उपहार धर्मतः स्वीकार किया जाता था न कि इसके पीछे कन्या को बिक्री का कोई इरादा था (न तो शुल्कबृध्या)। जैमिनी, शबर आदि ने भी यह ीमत दिया है। यह उपहार पूर्णतया यज्ञीप कर्म के लिए ही दिया जाता था। इस प्रकार से यह विवाह आसुर विवाह से भिन्न था।

7.4.4 प्राजापत्य विवाह

इस विवाह में कन्या का पिता वर को कन्या प्रदान करते हुए उसे आदेश देता था कि दोनों साथ मिलकर सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का निर्वाह करें। पिता वर से इसके लिए वचाबद्धता प्राप्त कर लेता था। आश्वलायान के अनुसार प्रजापत्य वह विवाह है जिसमें कन्या वर को "तुम दोनों साथ–साथ धर्म का पालन करों।" अपने स्वरूप में यह विवाह भी ब्राह्म जैसा ही है। इसी कारण वशिष्ठ आपान्तण आदि प्रारम्भिग सूत्रकार इसका उल्लेख नही करते। लगता है कि स्मृतिकारों ने विवाह प्रकारों की संख्या आठ करने के उद्देश्य से इसका विधान कर दिया। ब्राह्म और प्राजापत्य ये दोनों विवाह सर्वप्रचलित प्रकार का विवाह माना जाता था, जो आज हिन्दू समाज में विद्यमान है। विवाह के उपर्युक्त प्रकार प्रशस्त

अर्थात् तर्क शास्त्रसंगत बताए गए हैं। अंत के चार प्रकारों को शास्त्रकार मान्यता नही देते जिसका विवरण एक निम्न प्रकार है –

7.4. 5 असुर विवाह

इसमें कन्या का पिता अथवा उसके सम्बन्धी धन लेकर कन्या का विवाह करते थे। यह एक प्रकार से कन्या की बिक्री थी। मनृस्मृति में इसका विवरण इस प्रकार है– जहां वर कन्या के सम्बन्धियों को अथवा स्वयं कन्या को धन देकर स्वेच्छा से उसे ग्रहण करता है, वह आसुर विवाह होता है। इस प्रकार आसुर विवाह में मुख्य विचार धन का ही किया जाता था। अल्टेकर का अनुमान है कि प्राचीन अजीरिया समाज में कन्याओं की बिक्री की प्रथा प्रचलित थी। और उसी के प्रभाव से भारतीय समाज में इसका प्रचलन हुआ होगा। समृतिकारों ने इसकी निदा की है।

आपस्तम्ब के अनुसार शूद्र को भी कन्या मूल्य स्वीकार नही करना चाहिए। मनु के अनुसार कन्या के विद्धान पिता को अत्यल्प धन भी ग्रहण नही करना चाहिए। यदि लोभवश धन लेता है तो वह संतान विक्रेता है। बौधायन ने तो यहां तक कहा है कि धन से कृीति कन्या पत्नी का पूर्णवद नही प्राप्त कर सकती। वह देवताओं एवं पितरों के पूजा में भाग लेने की अधिकारिणी नहीं है। उसे दासी ही मानना चाहिए। किन्तु इस विवाह की निंदा के बावजूद भारत के कुछ परिवारों में इसका प्रचलन रहा जो आज भी सीमित रूप में विद्यमान है।

7.4.6 गन्धर्व विवाह

यह प्रणय विवाह था जिसमें माता–पिता भी इच्छा के विरूद्ध ही वर–कन्या एक दूसरे के गुणों पर अनुरम्त होकर अपना विवाह कर लेते थे। चूँकि इस विवाह का प्रचलन अधिकतर गान्धर्व जाति में प्रचलित था अतः इसे गान्धर्व विवाह कहा जाता है। इस विवाह का प्रचलन प्रत्येक युग में था। भारत की राजपूत जातियों में यह सर्वाधिक प्रचलित प्रकार था। वात्सायन ने इस विवाह को 'सबसे पूजित' बताया है। महाभारत में इसे सर्वोत्तम विवाह बताया गया हैं कुछ स्मृतिकारों ने धार्मिक तथा नैतिक आधार पर इसका विरोध किया है।

7.4.7 राक्षस विवाह

इसमें बलपूर्वक कन्या का अपहरण कर उसके साथ विवाह किया जाता था। मनु के अनुसार "कन्या पक्ष वालों की हत्या कर, घायल कर, उनके घरों को गिराकर, रोती चिल्लाती हुई कन्या को जलात् उठा लाना तथा उसके साथ विवाह करना राक्षस विवाह है।"वात्तुतः निहित इसमें क्रुरता के कारण ही इसे राक्षस कहा गया है। इस विवाह का प्राचीनतम प्रागैतिहासिक युग तक जाती है, जबकि कन्या को युद्ध का मूल्य समझा जाता जाता था। यह विवाह प्राचीन काल की यूद्धकर्मी

जातियों में विशेष प्रचलित था। महाभारत में इसे क्षात्र धर्म कहा गया है।

7.4.8 पैशाच विवाह

यह विवाह का निकृष्टम प्रकार है जिसकी सभी शास्त्रकार कटु आलोचना करते है। इसमें वर छल–कपट के द्वारा कन्या के शरीर पर अधिकार कर लेता था। मनु ने अचेत, सोती हुई, पागल, मदमन्द कन्या के साथ जब व्यक्ति संभोग करता है त बवह पैशाच कहलाता है। देवल का भी यही मत है। सभी विचारक इसे नितान्त असभ्य एवं बर्बर प्रथा बताते है। इस प्रचलन आदिम जंगली जनजातियों में रहा होगा। जौना भी बताया जा युका है कि विवाह के केवल पन्रथम चार प्रकार भी ही प्राचीन शास्कारों क्षरा प्रंशसनीय बताए गए है। आश्वलायन गृहासूत्रों में कहा गया है कि इसे दोनों पक्षों के क्रमशः बारह, दस, आठ तथा सात पूर्वज पवित्र होते है। सबसे अधिक प्रशस्त विवाह वह था जिसमें कन्या के माता–पिता अथवा संबन्धी वर की विधिपूर्वक पूजा करके उपहारों के साथ उसे कन्या प्रदान करते थे। विवाह के पूर्व दोनों पक्षों के गुण–दोषों पर विचार किया जाता था। वर के लिए प्रथम योग्यता यह थी कि उसने ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पूर्ण पालन करते हुए तीन, दो अथवा कम से कम एक वेद का अध्ययन किया हो। वास्सयायन के अनुसार केवल श्रुतवान व्यक्ति ही विवाह का अधिकारी होता है कन्या अविवाहित होना अनिवार्य योग्यताएं थी। बाल विवाह का सर्मथन प्रायः नही मिलता है।

7.5 सवर्ण तथ अन्तर्वर्ण विवाह

प्राचीन हिन्दू समाज में सवर्ण तथा अर्न्तवर्ण विवाहों का भी प्रचलन था। समान गोत्र, प्रवर तथा पिण्ड में विवाह करना वर्जित था। गोत्र का मूल अथ (गोशाला) था। जो बाद वंश अथवा कुल का बोधक बन गया। किसी परिवार के गा का नामकरण उसके आदि संस्थापक ऋषि के नाम पर होता है। आपस्तम्ब के अनुसार प्रत्येक गोत्र में प्रायः तीन प्रवर ऋषि होते थे। अतः सपिण्ड विवाह से तात्पर्य उन दो व्यक्तियों के विवाह से है जिनमें समान शरीर का रक्त विद्यमान हो। शास्त्र ज्ञातों ने पिता पक्ष में सात तथा माता पक्ष में पांच पीढ़ियों तक के सपिण्ड सम्बन्ध को वर्जित माना है।

7.6 अनुलोम तथ प्रतिलोम विवाह

प्राचीन हिन्दू समाज अनुलोम तथ प्रतिलोम विवाहों का भी प्रचलन था। अनुलोम में उच्च वर्ण का व्यक्ति अपने ठीक नीचे के वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता था। वैदिक समाज में इस तरह के विवाह प्रायः हुआ करते थे। क्योंकि वर्ण व्यवस्था के बंधन कठोर नही थे। अनेक ब्राह्मण ऋषियों ने विवाह क्षत्रिय कन्याओं के साथ हुए थे। च्वयन ने सुकन्या, श्यावम्य ने रथवीति, अगस्त्य ने लोपामुद्रा आदि क्षत्रिय कन्याओं के साथ विवाह किए थ। ब्राह्मणों को सभी वर्णों के साथ विवाह

करने का अधिकार मिला था। याज्ञवल्क्य के अनुसार अनुलोम से ब्राह्मण तीन कन्याओं से विवाह कर सकता था। राजतंरगिणी तथा कथासरित्सागर जेसे ग्रन्थों में इस प्रकार के कई विवाहों के उदाहरण मिलत है। पूर्वमध्य काल तक इस प्रकार के विवाह समाज में प्रचलित एवं वैध माने जाते थे। किन्तु बाद की स्मृतियों में इस प्रकार का विवाह की निदा की गई है।

प्रतिलोम विवाह के अर्न्तगत उच्च वर्ण भी कन्या का विवाह निम्नवर्ण के व्यक्ति के साथ होता था। इस प्रकार का विवाह को निन्दनीय माना गया है। समाज में इसका प्रचलन कम था। प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान को निकृष्ट एवं अम्प्रश्य बताया गया है। हिन्दू शास्त्रकारों ने निम्न वर्ण के व्यक्ति को अपने ऊँचे वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने की अनुमति प्रदान नही की है।

7.7 बहु पत्नीत्व तथा बहुपतित्व विवाह

हिन्दू जीवन पद्धति में सामान्यता एक विवाह ही आदर्श रहा। जिसमें स्त्री के लिए एक ही पति और पुरूष के लिए एक ही पत्नी का विधान किया गया है। आपस्तम्ण के अनुसार धर्म तथा प्रजा से सम्पन्न पत्नी के रहते हुए पुरूष को अपना दूसरा विवा नही करना चाहिए। हिन्तु हिन्दू शास्त्रकारों ने केवल विशेष परिस्थितियों में ही पुरूष द्वारा दूसरी पत्नी रखने की अनुमति देते है। मनु ने पुरूष द्वारा दूसरा विवाह करने की निम्नवार शर्ते निर्धारित की है।

1. यदि पत्नी बंध्या हो,
2. यदि उसके बच्चे जीवित नही रहते हो,
3. झगड़ालु प्रकृति की हो,
4. यदि उसमें कन्यांए उत्पन्न हो रही हो।

कौटिल्य ने भी पुत्रहीन पति को दूसरी पत्नी रखने की अनुमति देते है। याज्ञवल्क्य ने रोगिणी, बाध्या, मदिरा सेवन, पतिडाह रखन वाली, प्रियवचन न बोलने वाली पत्नी के रहते हुए पति उसे छोड़कर दूसरा विवाह कर सकता है। वात्सयायन ने बध्या पत्नी को सलाह देते है कि वह अपने पति को दूसरी पत्नी रखने लिए राजी करे। इन विवरणों से ज्ञात होता है। कि बहुपत्नीत्व के पीछे पुत्र प्राप्ति की ही भावना प्रबल थी।

याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट बताया है कि मोक्ष की प्राप्ति पुत्रों तथ पौत्रों के माहपक से ही सम्भव है। अतः व्यक्ति को यदि प्रथम पत्नी से पुत्र प्राप्ति नही हो वह एक से अधिक पत्नियां रख सकता है। वैदिक महामाप्क तथ ऐतिहासिक काल में एक से अधिक पत्नियां रखने वाले अनेक राजाओं एवं दूसरे व्यक्तियों को उदाहरण मिलते है। पूर्वनमध्य कालीन राजपूत समाज में भी इस प्रथा का विशेष रूप से प्रचलन में

था।

7.8 नियोग प्रथा

प्राचीन समाज कमें नियोग प्रथा का प्रचलन था जिसके अर्न्तगत पति विहिन स्त्रियां पुत्र प्राप्ति की इच्छा से पर पुरूष के साथ सम्बन्ध स्थापित करती थी। नियोग के लिए स्त्री देवर के साथ या कोई सपिण्ड व सगोत्र व्यक्ति अधिकारी होता था। कभी–कभी पति सग्ण तथा नंपुसक होने की दशा में इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। इस प्रकार के उत्पन्न पुत्र को मृतक पिता का क्षेत्रेज पुत्र कहा जाता था और वह अपने पिता के सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी होता था। लेकिन इस प्रथा का निन्दा अनेक शास्त्रकारों ने किया जिनमें मनु और पूर्व मध्य युगीन लम्मीधर ने पशुधर्म की संज्ञा वक प्रथा को ही।

7.9 विधवा विवाह

ऋग्वेद की एक उपमा से इस ज्ञात की पुष्टि होती है कि वैदिक काल में विधवा विवाह होते थे। अर्थववेद में मृति पति की चिता के साथ बैठी विधवा से कहा गया है कि उसक`निकट जाओ जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुम्हें प्रेम करता है। तथा अब उसमें पति के सम्बन्ध में प्रवष्टि हो चुकी हो। सम्भवता विधवा अपने पति के भाई यानि देवर के साथ विवाह उसी दशा में करती जब उसके मृत पति का कोई पुत्र नही होता था। विधवा विवाह गृह सूत्रों के काल तक काफी होते रहे। किन्तु गौतम ने धर्म सूत्रों में और मनुस्मृति में तथा बौधापन में विधवा के पुत्र का स्थान नीचा कर दिया। इस प्रकार स्मृतियों में उसकी स्थिति पहले की अपेक्षा गिर गई।

7.10 सारांश

भारतीय समाज में अविवाहित स्त्री या पुरूष आदर की दृष्टि से नही देखे जाते थे तथा उन्हें आचारवान तथा सथ्चरित्र नही मानाज जाता था। विवाहित होना व्यक्ति के चरित्र और चरित्र का सबमें प्रबल प्रमाण माना जाता था तथा उसका अविवाहित होना अविश्वास और शंका उत्पन्न करता था। हर्षचरित्र में बाण को हर्ष के जब दुष्चरित्र का आरोप लगाया तो अपने बचाव में अपने को विवाहित तथा गृहस्थ होने की दलीहल की। इसमें स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में किसी व्यक्ति की सच्चरित्रता उनके विवाह से आनी जाती थी। इसलिए विवाह आपेक्षित था।

7.11 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना में विवाह के महत्व का वर्णन करें।

2. विवाह के विभिन्न प्रकारों पर टिप्पणी लिखें।

3. विवाह के ऐतिहासिक महत्व का वर्णन कीजिए।

7.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास

2. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास

3. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई – 8 परिवार

इकाई की रूपरेखा

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 परिवार की अवधारणा

8.3 परिवार की उत्पत्ति

8.4 परिवार के प्रकार

8.5 भारतीय परिवार की प्रमुख विशेषाताएं

8.6 ऋग्वैदिक काल में परिवार

8.7 उत्तर वैदिक काल में परिवार

8.8 सूत्र काल में परिवार

8.9 मौर्य युग, सातवाहन–शुंग–कुषााण काल

8.10 गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल में परिवार

8.11 सारांश

8.12 बोध प्रश्न

8.13 संदर्भ ग्रन्थ

8.0 प्रस्तावना

प्राचीन सामाजिक संस्थाओं में कुटुम्ब या परिवार का विशिष्ट स्थान है। यह जीवन की मूलभूत इकाई है। परिवार के माध्यम से ही मानव अपना उत्कर्ष करता हैं। परिवार से ही समाज का निर्माण होता है। तथा यही नागरिक जीवन की प्रथम पाठशाला है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नही जो परिवार से सम्बन्ध न हो। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार की माध्यम में ही पूरी होती है। परिवार के अभाव में समाज का अस्तित्व ही संभव नही है। समाज का निरंतरता परिवार के माध्यम से ही बनी रहती है। भारत में परिार का अस्तित्व अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विद्यमान रहा है। आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के इस संस्था के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के आप जान सकेंगे–

- प्राचीन भारत में परिवार की प्रमुख विशेषताओं के विषय में।
- संयुक्त परिवार के महत्व के विषय में।

8.2 परिवार की अवधारणा

प्राचीन सामाजिक संस्थाओं में परिवार का विशिष्ट स्थान है। यह जीवन की मूलभूत इकाई है। परिवार के माध्यम से ही मानव अपना उत्कर्ष करता हैं। ज्ञात होता है कि पूर्व वैदिक काल में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। जिसमें माता–पिता, पति–पत्नी, भाई–बहन, पुत्र–पुत्री आदि के साथ ही साथ अन्य सम्बन्धी भी निवास करते थे। वे जब एक ही घर में रहते थे। साथ ही साथ भोजन करते थे एक धर्म का पालन करते थे। तथा परिवार की सम्पत्ति पर सभी का अधिकार होता था। परिवार पितृसत्तात्मक होता था। इसमें पिता का निरंकुश शासक होता था। सभी सदस्यों को उसकी आज्ञाओं का पालन अनिवार्य रूप से करना होता था। पिता का परिवार के लोगों पर असीमित अधिकार होता था आवश्यकता पड़ने पर कठोर दण्ड भी दे सकता था। वैदिक साहित्य में पिता द्वारा पुत्र को बेचे जान, दान देने जाने, आंखे निकलवा देने की बात सामने उदाहरण स्वरूप मिलते है। उत्तर वैदिक काल में भी यही प्रथा बनी रहती। सूत्रों के समय परिवारिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए अनेक विधान बनाये गये। बौध काल में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। पूर्व मध्यकाल में हम सम्पत्ति अधिकार सम्बन्धी परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन पाते है। पूर्व मध्यकाल में मनु तथा याज्ञवल्य की स्मृतियों पर लिखे भाषण जिनमें कुटुम्ब या परिवार सम्बन्धी नियमों की विस्तार पूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की गई। वही नियमों द्वारा हिन्दू सम्राज्य आज तक शासित व व्यवस्थित रहा है।

8.3 परिवार की उत्पत्ति

परिवार की उत्पत्ति में ऋग्वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। परिवार में वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार का मुख्यिा होता था। तथा परिवार के समस्त सदस्य उसके आदेशों का पालन करते थे। बौद्ध काल में भी परिवार संयुक्त परिवार होते थे। अनेक जातक कथाओं में ऐसे परिवारों का उल्लेख मिलता है जो अपने सदस्यों के सहयोग और सहायता से चलते थे।

8.4 परिवार के प्रकार

1. **एकल या पृथक परिवार** :–

उत्तरवैदिक काल में संयुक्त परिवार के विघटन का आभास होने लगता है किन्तु आर्यो में मुख्यता संयुक्त परिवार परम्परा ही प्रचलित रही। स्मृतिकारों ने भी संयुक्त परिवारों का वर्णन किया है परन्तु इस युग में

एकल अथवा पृथक परिवार का समर्थन भी आरम्भ हो गया था। मनु के अनुसार परिवार का विभाजन धर्मानुकूल है किन्तु सम्पत्ति का बंटवारा पिता की मृत्यु के बाद ही किया जाना चाहिए।

2. **पितृ सन्तात्मक आर्य परिवार :–**

भारतीय आर्यो में पितृ मूलक तथा अनार्य सभ्यताओं मे मातृमूलक सभ्यता परिवार व्यवस्था थी। आर्य परिवार में पति–पत्नी, पुत्र–पौत्र, प्रपौत्र, बधुएं, पौत्र बधुएं, अविवाहित पुत्रियां, बहने और पौत्रियां आदि रहते थे। ये सब लोग एक ही स्थान पर और प्रायः एक ही भवन में रहते थे। एक साथ भोजन व एक ही धर्म को तथा राष्टदेव की उपासना करते थे। परिवार का मुख्यिा परिवार का वयोवृद्ध पुरूष समस्त स दस्यों के आचरण को अनुशासित करता था और सभी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं पूर्ति करता था। परिवार के समस्त सदस्य अनुशासन में रहते थे तथा उसके कार्य दर्शन में कार्य करते थे। वैदिक युग से लेकर आस तक भारतीय परिवार के मुखिया के अधिकारों में कोई विशेष परिवर्तन ही हुआ है।

3. **मातृ–सत्तात्मक अनार्य–परिवार :–**

सिंधु सभ्यता के अवशेषों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि सिंधु वासियों में मात् सत्तात्मक परिवार प्रथा रही होगी।

8.5 भारतीय परिवार की प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय परिवार एक गतिशील संस्थाहै। समय–समय पर इसका स्वरूप बदलता रहा है। किसी भी भारतीय परिवार के संगठन का आधार ठोस है तथा इसकी मूलभूत विशेषताएँ आज भी देखी जा सकती है। भारतीय परिवार भी मूलभूत विशेषताएँ निम्नलिखित है –

1. विवाह संस्कार :–

आदि काल से ही आर्यो ने विवाह के नियम बनाए जिनमें समय के साथ वर्ण व्यवस्था बाद में जाति प्रथा का अंकुश कठोर होता चला गया। कुल के साथ–साथ गौत्र सम्बन्धी नियम भी परम्परागत भारतीय परिवारों में कड़ाई से लागू होते है।

2. जन्म–जन्म का सम्बन्ध :–

भारतीय परिवार के मजबूत गठन के पीछे विवाह सम्बन्धों को जन्म–जन्मांतर अथवा सात जन्मों तक चलने की धारणा थी। एक बार विवाह होने के बाद भी उस परिवार को नही छोड़ती थी। ऋग्वेद की एक ऋचा में पुरोहित विवाह के अवसर

पर बधु को आर्शीवाद देता है – **तुम यही इसी घर में रहो, तियुक्त मत होना, अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते और आनंद मनाते हुए समस्त आयु का उपभोग करो।**

3. संयुक्त परिवार :–

संयुक्त परिवार प्रथा की स्थापना वैदिक काल से हुई। यह प्रथा समाज भी बहुत बड़ी विशेषता है। संयुक्त परिवार में माता–पिता, बच्चों में साथ तीन से चार पीढ़ियों का एक सदस्य एक ही आवास में रहते थे। इस प्रथा का उद्देश्य परिवार के समस्त सदस्यों की पर्वता–मुखी उन्नति हेतु साधन एवं सुविधायें उपलब्ध करना और सामाजिक सुरक्षा हेतु सहायोग प्रदान करना था।

4. नारी सम्मान :–

नारी को सम्मान देना, भारतीय परिवार की प्रमुख विशेषता है। वैदिक ग्रन्थों में गृहाण्य पुत्र एवं संतान प्राप्ति के लिए पत्नी की आवश्यकता जतायी गई है। ऋग्वेद में कहा गया है कि पत्नी के बिना गृहस्थी सम्भव नही है। पत्नी ही गृहस्थी है।

5. पुत्रियों से प्रेम :–

भारतीय परिवार पुत्रियों के विवाह के बाद विस्कृत नही करते है। अपितु विभिन्न त्योंहारों एवं पारिवारिक उत्सवों के आयोजनों में उन्हें प्रेम व सम्मान के साथ आमन्त्रित करते है।

6. सामुहिक सम्पत्ति :–

परिवार की सम्पत्ति किसी भी सदस्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही मानी जाती थी। परिवार के समस्त सदस्यों की सामुहिक सम्पत्तिह अपितु मानी जाती थी। उत्तर वैदिक काल में सम्पत्ति के अर्न्तगत पशु, भूमि एवं आभुषणों को सम्मिलित किया जाता था।

7. परिवार की सम्पत्ति का बंटवारा –

याज्ञवल्य स्मृति भी टीमा मीताक्षरा (11वीं सदी) की मान्यता है कि पिता के जीवित रहते हुए भी पुत्र सम्यपत्ति का बंटवारा करा सकते है। क्योंकि उन पर पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार होता हे। मनु के अनुसार सम्पत्ति पर पिता के पुत्रहीन होने पर वह अपनी पुत्री को अपना उत्तराधिकारी नियुमा कर सकता था।

8. पारिवारिक सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार :–

भारतीय आर्प परिवारों में सम्पत्ति के अधिकार एवं विभाजन के सम्बन्ध में कुछ

निश्चित नियम थे जिनका निवार्हन पीढ़ी दर पीढ़ी स्वतः होता था।

9. अतिथि सत्कार :–

मनुस्मृति में जो गृहस्थ देवता, अतिथि, भृत्य, माता–पिता का संरक्षण नही करना यह श्वाक लेते हुए भी निष्प्राण हैं। यदि कोई शत्रु या विरोधी भी अतिथि बनकर घर आता है तो परिवार के सभी सदस्य उसे आदर देते है।

10.प्रेम एवं सौहार्द :–

भारतीय परिवार में प्रेम एवं सौहार्द का तत्व प्रमुखता पाया जाता है। परिवार में विभिन्न आयु में सदस्य मिल–जुल कर रहते है। सुख–दुख में एक दूसरो का हाथ बटांते है। वैदिक साहित्य में इसी भावना के कारण विवाह के उपरान्त पुत्र अपने पिता के परिवार से अलग नही होता था अपितु अपने पिता अथवा पितामह के परिवार में रहता था।

8.6 ऋग्वैदिक काल में परिवार

ऋग्वैदिक काल में कुल के अध्यक्ष के लिए कुलपा शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिसका अर्थ है कुल का रक्षक आर्यो में परिवार में पिता को सबसे बड़ा माना जाता था। पिता ही परिवार भी सम्पत्ति का स्वामी होता था। उसकी सम्पत्ति में गाय, सोना, आभूषण व दाम, शास्त्र सभी सम्मिलित थे। वह भूमि खण्ड का भी स्वामी होता था। ऋग्वेद में ऋजाख और भुज्यु की कथाओं में स्पष्ट होता है कि पिता पुत्र पर पून अधिकार होता था। ऋजाश्व के पिता ने उसे अंधा बना दिया था कि क्योंकि उसकी लापरवाही से जो भेड़ो को भेड़ियों ने खा लिया तथा भुज्यु की कथा में पिता पुत्र को जल में डुबों सकता है और देश से निकाल भी सकता है। परिवार में पुत्र का बहुत था कि वह शत्रुओं से लड़ने में और धन कमाने में पिता की सहायता करता था। पिता उसके जीवन काल में ही सम्पत्ति का बंटवारा कर सकता था। विवाह युक्त से ज्ञात होता है कि पत्नी का देवर और सा–ससुर पर पूर्ण नियंत्रक होता था। यघपि व स्वयं उनका प्यार करती थी।

इसमें ज्ञात होता है परिवार में पत्नी की स्थिति बहुत अच्छी थी। पति के साथ पत्नी धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थी। कन्या शिक्षित होती थी और उसका निर्वाह खड़ी आयु में होता था। बहुधा वह स्वयं अपने पति का चुनाव करती थी। साधारणयता एक पुरूष एक ही स्त्री में विवाह करता था। पिता की मृत्यु के बाद भाई–बहनों की देखभाल करता था। ऋग्वैदिक काल में अतिथि का सेवा सुश्रुषा को बहुता महत्व दिया जाता था।

8.7 उत्तर वैदिक काल में परिवार

उत्तर वैदिक काल में ऋग्वेद में जहां कुलप शब्द का प्रयोग मिलता है, ब्राह्मणों में मूल शब्द का प्रयोग कई स्थानों में मिलता है। ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलाता है कि कुल का अध्यक्ष पिता व सबमें बड़ा भाई होता था। इसमें कुल में सभी सदस्य रहते थे। ञ्तरेय ब्राह्मण व शुनः शेप की कथा में यह स्पष्ट होता है कि पिता का पुित्र पर पूर्ण अधिकार व नियंत्रण था। कुल का अध्यक्ष पुत्र न होने की दशा में ही नही अपितु पुत्र होते हुए भी योग्य बालक को गोद लेने की प्रथा थी। जिसमें परिवार उन्नति कर सके। पिता की अनुपस्थिति में भाई–बहन के संरक्षक का कार्य करते थे। परिवार में साधारणयता तीन पीढ़िया एक ही घर में निवास करती थी। सम्बन्धियों में भांजा, चचेरा भाई, मामा का वर्णन भी मिलता है।

इस काल में परिवार में पत्नी का बहुत महत्व था। शतपथ ब्राह्मण में जब एक मनुष्य विवाह करके संतान उत्पन्न नही करता तो उसे अपूर्ण माना जाता था। विवाह करके संतानोंत्पत्ति के बाद ही पूर्ण मनुष्य बनता है। वैदिक काल में पिता सम्पत्ति में बंटवारा करते समय अपने बड़े पुत्र के साथ अधिकाय व्यवहार करता था।

8.8 सूत्र काल में परिवार

में भी संयुक्त परिवार की प्रथा ही विद्यामान थी किन्तु कभी–कभी कुल के अध्यक्ष की मृत्यु होने पर भाई अलग–अलग हो जाते थे। बलिवैश्वेद व यज्ञ के लिए बलि सबसे बड़ा भाई निकालता था। इन सब बातों को देखते हुए हम यह कह सकते है कि बहुत बड़े परिवार में एक से अधिक चूल्हों पर रोटियां बनती थी। कन्याओं की अपेक्षा पिता पुत्रों को जन्म अधिक चाहते थे।

इस काल में पिता के पुत्र को दे देने, बेचने व त्याग देने की व्यक्ति का संकेत है किन्तु मात–पिता द्वारा संतान के प्रति दुर्व्यव्यवहार को साधारण पाप माना गया है। सूत्रकाल में पूत्रों की अपेक्षा पुत्रियों का महत्व कम हो गया किन्तु उनके साथ दुर्व्यव्यवहार नही किया जाता था। इस काल में परिवार में पत्नी की स्थिति पति की अपेक्षा बहुत हीन हो गई थी।

8.9 मौर्य युग, सातवाहन–शुंग–कुशाण काल

यद्यपि रामायण और महाभारत में आदर्श पत्नी का चित्र प्रस्तुत किया गया है किन्तु मनु और मेनस्थनीज के वर्ण से ऐसा प्रतीत होता है कि सभी स्त्रियां पूर्णतया पतिव्रता नही थी। समाज में ऐसे परिवार थे जिनमें विवाहित स्त्रियों में आदर्श स्वामिभक्ति का अभाव था। मेगास्थनीज के अनुसार उनमें व्यक्ति एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करते थे। पति के वर्ण की पत्नी को विशेषाधिकार प्राप्त थे। बहुविवाह प्रथा के काल कुछ पत्नियों का तिरस्कार भी किया जाता था। इससे

परिवारिक जीवन के शांति अवश्य कंग होती होगी। धर्मसूत्रों में आठ प्रकारों का विवाहों का वार्णन किया गया। इस समय यह आठ प्रकार में विवाह होने थे। इस काल में कन्याओं का विवाह कम आयु में होने लगे और शिक्षा संस्कृति का स्तर घट गया। इसलिए परिवार में उनकी स्थिति भी गिर गई।

8.10 गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल

गुप्त काल में संयुक्त परिवार वही उद्देश्य था जो कि उससे पहले परिवार था। बालक प्रेम और आदर का पाठ परिवार में सीखते थे। गृहस्थ और गृहिणी परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति अपना भक्ति पूरा करके शिलोग्छवृति में रहते थे। यही नही गृहस्थ के यज्ञ में पंच महायज्ञ करके समाज के ऋणों तक होने का प्रयत्न करते थे।

गुप्तोत्तर काल में परिवार में पति की स्थिति सर्वोच्च थी। इस काल के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजाओं की इस काल में अनेक पत्नियां होती थी। इस काल में कुछ विवाह स्वयंवर होते थे। मोतिथि के अनुसार धर्म अर्थ काल में सम्बन्ध स्त्रियां स्वंतत्र नही है। अपने पति की अनुमति के साथ इन कार्यो के लिए धन खर्च कर सकती है। नौवी सदी में व्याख्याकारों ने भी व्यक्तिवार की प्रवृत्तियों को मान्यता दी और उभय पक्षीय सिद्धांत के आधार पर कानूनों में संसोधन किए किन्तु उन्होंने की संयुक्त परिवार तथा पितृ बंधुओं के परिवारिक संगठनों पर बल दिया।

8.11 सारांश

वर्तमान युग में संयुक्त परिवार प्रणाली इसलिए उपयोगी नही हो सकती कि वर्तमान अर्थव्यवस्था में परिवार का प्रत्येक सदस्य जब तक अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग न करे जीवन निर्वाह कठिन हो जाता हैं संयुक्त परिवार में प्रत्येक सदस्य अपना पूर्ण उत्तरदायित्व ही समझता। इस काल में प्रत्येक व्यक्ति केवल हितों की वृद्धि करने के लिए चिंतित है दूसरों के लिए अपने सुखों का लेशमात्र भी त्याग करने को तैयार नही है। इस वातावरण में संयुक्त परिवार की सफलता की कल्पना करना एक दुःसाहस होगा।

8.12 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना में परिवार के महत्व का वर्णन करें।

2 परिवार के विभिन्न प्रकारों पर टिप्पणी लिखें।

3 परिवार के ऐतिहासिक महत्व का वर्णन कीजिए।

8.13 संदर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
2. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
3. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई 9 स्त्रियों की दशा

इकाई की रूपरेखा

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 सामाजिक स्थिति

9.3 हड़प्पा काल में स्त्रियों की दशा

9.4 वैदिक काल में स्त्रियों की दशा

9.5 बुद्व काल में स्त्रियों की दशा

9.6 स्त्रियों की शासन एवं प्रशासन में भूमिका

9.7 स्त्रियों की सम्पत्ति विषयक अधिकार

9.8. स्त्री का चरित्र

9.9 वेश्यवृत्ति से सम्बन्धित स्त्रियों की स्थिति

9.10 सती प्रथा

9.11 सारांश

9.12 बोध प्रश्न

9.13 सहायक ग्रन्थ

9.0 प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। उनका सम्मान एवं आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। उनकी अवस्था पुरुषों के सदृश थी। वे अपना मनोकुल आत्म विश्वास और उत्थान कर सकती थी। उन्हें विवाह, शिाा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। वह कन्या, पत्नी तथा माँ के रूप में हिन्दू परिवार और समाज में आदृत थी। भारतीय धर्मशास्त्र में नारी सर्षशक्ति सम्पन्न मानी गई तथा विद्या, शल, ममता, यश और सम्पत्ति की प्रतीक समझी गई। धीरे–धीरे समाज में उसका महत्त्व इतना अधिक बड़ा कि उसके बिना अकेला पुरुष अपूर्ण और अधूरा समझा गया। स्त्री पुरुष की 'शरीर्राद्ध' और 'अर्धांगिनी' मानी गई तथा 'श्री और 'लक्ष्मी' के रूप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्ति और पुंजित करने वाली की गई उसका आगमन पुरुष के लिए शुभ, सौरभमय और सम्मान जनक था जिसके सम्पर्क से उसका व्यक्तित्व मुखर और सन्निविष्ट हो उठता था।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत स्त्रियों की दशा के विषय में जान सकेंगे। साथ ही उनके विभिन्न कर्तव्यों एवं अधिकारों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगें।

9.2 सामाजिक स्थिति

शिकारी एवं धुमन्तू समाज में स्त्रियाँ–लगभग 5000 ई0पू0 में भीमबेटका के शैलचित्रों के वर्तमान अध्ययन में यह तक दिया गया है कि महिलाएँ फल एवं अन्य जंगली उपज इकट्ठा करने तथा टोकरी व छोटे जाल का उपयोग करके छोटे जीवों का शिकार करने में लगी हुई थी। उन्होंने समाज के इस शिकारी–खाद्य संग्रह चरण के दौरान माँ के रूप में अपनी भूमिका को संग्रहकर्ता के रूप में अपनी दैनिक क्रिया कलाप के साथ जोड़ दिया। मध्य भारत में गुफा चित्रों के साक्ष्य यह संकेत करते हैं कि शिकारी–खाद्य संग्रह चरण में श्रम का कोई कठोर यौन विभाजन नहीं था जैसा कि कभी–कभी माना जाता है कि पुरुष शिकार करते थे और महिलाएँ खाद्य सामग्री एकत्र करने का काम करती थी। मध्य भारत में मध्य प्रस्तर काल में यह सम्भावना है कि महिलाएं खाद्य एकत्रीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के अतिरिक्त शिकार में भी भाग लेती थी, जो किसी भी मामले में उष्णकटिबंधीय जलवायु में भोजन का प्रमुख श्रोत था। इस प्रकार तत्कालीन अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भूमिका पुरुषों से ज्यादा नहीं तो, पुरुषों के बराबर ही थी। इस आदिम समाज के बीच पुरुषों एवं महिलाओं की सापेक्ष स्थिति को अधिक से अधिक 'अलग लेकिन समान' के रूप में वर्णित किया जा सकता है।

कभी–कभी चित्रों में गर्भवती महिलाओं माँ के रूप में पालन–पोषण की भूमिका निभाने वाली महिलाओं तथा बच्चों को जन्म देने वाली महिलाओं को चित्रित किया जाता है, और अंतिम को एक देवी माँ की छवि के रूप में पहचाना गया है। यह भी तर्क दिया गया है कि पुरुषों और महिलाओं के लिए धार्मिक अभिव्यक्ति का पहला स्रोत माँ और बच्चे के बीच का मनोवैज्ञानिक बंधन था, और 'जीवन देने वाली माँ' के पास 'जीवन और मृत्यु' की शक्ति थी। इस प्रकार पुरुष और महिलाएं, इसका अवलोकन करते हुए नारी को नाटकीय और रहस्यमय शक्ति देवी माँ की पूजा में बदल गई। शिकारी संग्रहण समाज में महिला प्रजनन शक्ति को मूल्यवान माना जाता है, क्योंकि समुदाय का अस्तित्व इसी पर निर्भर है। कथोटिया, भीम बेटका और खारवर्ड की प्रागैतिहासिक शैल चित्र महिला कामुकता को महिला अस्तित्व के एक पहलू के रूप में मानती है। इस प्रकार प्रजननकर्ता के रूप में महिलाएँ उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी कि शिकारी अर्थव्यवस्था में खाद्य संग्राहक के रूप में उनकी गतिविधियाँ। ऐसे समाज में पुरुषों द्वारा महिलाओं के यौन नियंत्रण की बहुत कम आवश्यकता रही होगी।

9.3 हड़प्पा काल में स्त्रियों की दशा

हड़प्पा सभ्यता के साक्ष्यों का लिंग के दृष्टिकोण से विश्लेषण नहीं किया गया है, लेकिन सामाजिक स्तरीकरण के उद्भव के कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। इसमें यह दृष्टिगत है कि लोगों का एक वर्ग श्रमिक है जो निचले नगर में निवास करता था जबकि अन्य जिसके पास शक्ति थी वह गढ़ों पर कब्जा किया। जबकि, अनेकों मातृदेवीयों की मृणमूर्तियाँ एवं नृत्यरत कास्य निर्मित लड़की प्रतिमा के अस्तित्व की व्याख्या महिलाओं के प्रजनन के साथ विशेष सम्बंधों के निरन्तर महत्व के रूप में की जा सकती है तथा उन्हें उनकी कामुकता की स्वीकृति के रूप में भी देखा जा सकता है। सबूत यह बताने के लिए पर्याप्त नहीं है कि पुरुषों द्वारा अथवा महिलाओं की कुछ श्रेणियों द्वारा कामुकता पहले से ही किसी प्रकार के नियंत्रण में थी। पितृसत्ता के निर्माण पर लर्नर के प्रेरक अध्ययन ने सुझाव दिया है कि महिलाओं और उनकी कामुकता पर किसी प्रकार का समुदाय अथवा कबीले का नियंत्रण पुरातन राज्य में सामाजिक संगठन का एक पहलू था और यह हड़प्पा संस्कृति में भी मौजूद हो सकता है। मातृदेवी की मूर्तियों की प्रचुरता महिलाओं की कामुकता और प्रजनन शक्तियों के क्रमिक अनुष्ठान का भी प्रतीक है। वर्ग विभाजित समाज में महिला सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में हाशिये पर चली जाती है। ऐसे समाजों में, वैचारिक स्तर पर माँ का मूल्यांकन अक्सर वास्तविक जीवन में उसके मूल्यों के विपरीत होता है।

9.4 वैदिक काल में स्त्रियों की दशा

वैदिक कालीन समाज में स्वतंत्र थी। वे बिना किसी प्रतिबन्ध के सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित होती थी। सभी दृष्टियों से यह पुरुषों के समान थी। यह शिक्षा, ज्ञान, यज्ञ इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में वह बिना विरोध के स्वच्छन्दता पूर्वक सम्मिलित होती थी तथा सम्मान पूर्वक आदर प्राप्त करती थी। वैदिक काल में ऐसी अनेक विदुषी स्त्रियाँ थी, जिन्होंने ऋग्वेद और अन्य वेदों अनेक ऋचाओं का प्रणयन किया था। लोपामुद्रा, विश्ववारा, सिक्ता, घोषा आदि ऐसी ही विदुषी स्त्रियाँ थी। 'ब्रह्मयज्ञ' में जिन ऋषियों के नाम लिए जाते हैं उनमें सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषियों के नाम भी लिए जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठा वैदिक ऋषियों के समान थी। इसी प्रकार गार्गी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा विलक्षण तर्क शक्ति एवं उत्कृष्ट मेघा के बल पर याज्ञवल्क्य ऋषि को धार्मिक शास्त्रार्थ में पराजित किया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में स्त्रियाँ बिना पर्दे के स्वतंत्रता पूर्वक पुरुषों के साथ विद्वत–गोष्ठियों और दार्शनिक वाद–विवाद में सम्मिलित होती थी।

उत्तर वैदिक काल के आते–आते स्त्रियों की दशा में अवसान होने लगा। उसके सामाजिक और धार्मिक अधिकार तो अवश्य बने रहे किन्तु उसके वैयक्तिक गुणों के प्रति संदेह व्यक्त किया गया। उसके लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग होने

लगा। उसे असत्यभाषी और अमृत कहा गया।[1] उसके लिए भविष्यवाणी की गई कि यदि वह पति द्वारा धन देकर क्रय की जाती है तो वहां पर पुरुष के साथ घूमती है।[2] इस तरह की घटनाएँ समाज में कभी–कभी होती थी जो समाज में इस युग में निन्दनीय माना गया। उसे पुरुषों के साथ यज्ञ में सोम का भाग लेने से वंचित कर उसकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया गया।[3] महाभारत का कथन है कि स्त्री को सदा पूज्य मानकर उससे स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है और उसकी अनुपस्थिति में सभी पूर्ण कार्य अपवित्र हो जाते हैं।[4] धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के काल में स्त्रियों की दशा पूर्णतः पतनोन्मुख हो गई। पितृसत्तात्मक परिवार होने के कारण उसकी स्थिति निरन्तर गिरती गई। उनकी स्वतंत्रता एवं उन्मुक्तता पर अनेक प्रकार के अंकुश लगाये जाने लगे। मनु जैसे स्मृतिकारों ने उसे कभी भी स्वतंत्र न रहने के लिए निर्देशित किया तथा यह विचार प्रकट किया कि स्त्री कभी भी स्वतंत्र रहने योग्य नहीं है। जब तक वह कन्या रहे उस पर पिता का संरक्षण रहे, जब उसका विवाह हो जाये तब उस पर भर्ता (पति) का संरक्षण रहे और जब वह स्थविर (वृद्धावस्था) हो तब उस पुत्र का संरक्षण रहे। स्त्रियों के दो प्रकार हे, साध्वी और असाध्वी। साध्वी स्त्रियाँ पृथ्वी की माता और उसकी संरक्षिका है तथा असाध्वी स्त्रियाँ अपनी पायी गतिविधियों से विख्यात हैं। वैदिक काल में शिक्षा अपने शिखर पर थी। स्त्रियाँ पुरुषों के समकक्ष बिना भेदभाव के शिक्षा प्राप्त करती थी। पुत्र की भाँति पुत्रियों का भी विधारम्भ करने से पूर्व उपनयन संस्कार किया जाता था तथा वह भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करती थी। उसे वेदाध्ययन एवं यज्ञ को सम्पादित करने का पूर्णतया अधिकार था। स्त्रियाँ दर्शन एवं तर्कशास्त्र दोनों ही विषयों में निपुण थी। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि कुछ विदुषी स्त्रियों ने ऋग्वेद के अनेक ऋचाओं की रचना में योगदान दिया था। उस समय कुल 20 कवियत्रियों के नाम मिलते हैं जिनमें रोमाशा, अपाला, उर्वशी, विश्वारा, सिकता, निबावरी, घोषा लोपामुद्रा इत्यादि विदुषियाँ अधिक प्रसिद्ध थीं। वे पति के साथ समान रूप से यज्ञ में सहयोग प्रदान करती थीं।[5]

उत्तर वैदिक युग में भी स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य में रहकर शिक्षा ग्रहण करती थी। महाभारत से पता चलता है कि पाण्डवों की माँ कुन्ती अथर्ववेद में पारंगत थी।[6] वैदिक युग में छात्राओं के दो वर्ग थे, एक साधोवधू और दूसरी ब्रह्मवादिनी। साद्योवधू वे छात्राएँ थी जो विवाह के पूर्व तक कुछ वेदमंत्रों और याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती थी तथा ब्रह्मवादिनी वे थी जो अपनी शिक्षा पूर्ण करने में अपना जीवन लगा देती थी। ऐसी कुछ स्त्रियाँ जीवन पर्यंत अध्ययन में लीन रहती थी और आजीवन विवाह नहीं करती थी। ऋषि कुशध्वज की कन्या वेदवती ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री थी।[7] याज्ञवक्ल्य की पत्नी मैत्रेयी विख्यात दार्शनिका थी जिसकी रूचि सांसारिक वस्तुओं और अलंकारों में न होकर दर्शनशास्त्र में थी।[8] वाल्मीकी और अगस्त्य जैसे ब्रह्मर्षियों से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करके मैत्रेयी ने ख्याति प्राप्त

की थी। महाभारत से विदित होता है कि द्रौपदी पंडित थी। रामायण में उल्लेखित है कि अत्रेयी ने वाल्मीकी आश्रम में रहकर ज्ञानार्जन किया था। सहशिक्षा का उदाहरण भी महाभारत में मिलता है जब अम्बा और शैखावत्य एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। प्रथितेयी बढ़वा जैसी विदुषी नारियों ने शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी।

9.5 बुद्व काल में स्त्रियों की दशा

बौद्ध युग में स्त्रियाँ प्रायः शिक्षित और विद्वान हुआ करती थी। विद्या, धर्म और दर्शन के प्रति उनकी अगाध रूचि होती थी। बौद्ध आगमों की शिक्षिकाओं के रूप में भी उन्होंने ख्याति प्राप्त की थी। थेरीगाथा की कवियित्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी और 18 विवाहित भिक्षुणियाँ थी। उनमें शुभा, सुमेधा और अनोपमा उच्च वंश की कन्याएं थी, जिनसे विवाह करने के लिए राजकुमार और सम्पत्तिशाली सेठों के पुत्र उत्सुक थे। राजगृह के एक सम्पत्तिशाली सेठ की पुत्री भद्रकुण्ड केशा अपनी विद्या और ज्ञान से सबको आकृष्ट करती थी। ये उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि उस युग में साधारणतः स्त्रियाँ ज्ञान विपासु थीं तथा उसके अन्वेषण और प्राप्ति में तल्लीन रहती थी। जैन साहित्य से भी विदुषी स्त्रियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कौशाम्बी शासक की पुत्री जयन्ता ज्ञान और दर्शन में पारंगत थी। अनेक महिलाएं शिक्षिका बनकर अध्यापिकाओं का जीवन व्यतीत करती थी जो अपना शिक्षण कार्य उत्साह और लगन के साथ निष्ठापूर्वक सम्पन्न करती थी। ऐसी स्त्रियां उपाध्याया कही जाती थी। ये उपाध्याया छात्राओं को पढ़ाया करती थी तथा उन्हें अन्यान्य विषयों का ज्ञान प्रदान करती थीं। इनकी अलग शिक्षा शालाएं हुआ करती थीं, जहाँ महिलाएँ जाकर शिक्षा ग्रहण करती थी। ऐसी महिला शिक्षण संस्थाओं का प्रबंध उपाध्यायाएँ ही करती थी।

पुराणों से विदित होता है कि नारी शिक्षा के दो रूप थे, एक अध्यात्मिक और दूसरा व्यवहारिक। अध्यात्मिक ज्ञान में बृहस्पति–भगिनी भुवना अर्पणा, एकपर्णा, एकपाटला, मेना, धारिणी, संनति, शतरुपा आदि कन्याओं के नामों का उल्लेख हुआ है जो 'ब्रह्मवादिनी' थी।

दूसरी शताब्दी ई0पू0 तक स्त्री का उपनयन संस्कार व्यवहारतः बन्द हो चुका था। विवाह के अवसर पर ही उसका उपनयन संस्कार समान्य कर दिया जाता था। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन संस्कार, पति की सेवा ही उसका आश्रम निवास और ग्रहस्थों के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे।[9] स्मृतिकारों ने व्यवस्था दी कि बालिकाओं के उपनयन में वैदिक मंत्र नहीं पढ़ना चाहिए।[10] कालान्तर में वह शुद्रों की तरह वेदों के पठन–पाठन और यज्ञों से सम्मिलित कालान्तर में वह शुद्रों की तरह वेदों के पठन–पाठन और यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से वंचित कर दी गई।

अतः वह केवल माता, पिता, भाई बन्धु आदि से घर पर ही शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। बाद के भाष्कारों मेघातिथि, विश्वरूप और अपरार्क की भी यही व्यवस्था है। पूर्वमध्य युग तक आते–आते नारी शिक्षा का प्रसार अवरूद्ध हो चुका था, किन्तु अभिजात्य वर्ग में, सुसंस्कृत व सुबोध स्त्रियों की कमी नहीं थी। वे प्राकृत एवं संस्कृत में दक्ष होती थीं। काव्य, संगीत, नृत्य, वाद्य और चित्रकला में भी वह प्रवीण होती थी। हर्षचरित में बाणभट्ट ने लिखा है कि वह 'नृत्यगीत' आदि में विदग्ध सखियों के बीच सकल कलाओं का प्रतिदिन अधिक से अधिक परिचय प्राप्त करती हुई धीरे–धीरे बढ़ रही थी।[11] हाल के 'गाथासप्तशती' से अनेक विदुषी स्त्रियों का पता चलता है। इनमें रेखा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहई, बद्धवही, शशिप्रभा जैसी कवियित्रियाँ अपनी प्रतिमा और कल्पना शक्ति के लिए विख्यात थी।[12] कवि राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी उत्कृष्ट कवियित्रि और टीकाकार थी।[13] इस प्रकार इस युग में अनेक ऐसी प्रज्ञा सम्पन्न नारियाँ हुई जिन्होंने अपनी रचना शैली और काव्य–कला से साहित्यिक योगदान किया।

9.6 स्त्रियों की शासन–प्रशासन में भूमिका

प्राचीन भारत में ऐसी भी स्त्रियाँ हुई जो शासन व्यवस्था एवं राज्य के प्रबंध का कार्य भी करती थी। कभी–कभी वह शासक अथवा अभिभावक के अभाव में स्वयं प्रशासन का संचालन करती थीं। मत्संग की महारानी ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात यूनानी आक्रान्ता सिंकदर के आक्रमण का प्रतिरोध किया था। सातवाहन वंश की राजमाता नयनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्र का संरक्षण करते हुए स्वयं प्रशासन का भार संभाला था। गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता (चौथी सदी) ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् पुत्र की अल्प व्यस्कतावश स्वयं शासन का कार्यभार ग्रहण किया था। कश्मीर की सुगंध एवं दिद्दा नामक नारियाँ अपने प्रशासन एवं राज्य कार्य के लिए विख्यात थी।[14] गुजरात की चालुक्य वंशीय अक्का देवी और भैला देवी जैसी रानियों ने अपने राज्य का प्रशासन निष्ठापूर्वक किया था।[15] उपर्युक्त सभी विवरणों से स्पष्ट होता है कि महिलाएँ समय पड़ने पर राज्य के संचालन में भी अग्रणी रहती थी तथा अपनी कुशल बुद्धिमत्ता और कुशलता से अपने राज्य का प्रशासन करती थी।

9.7 स्त्रियों की सम्पत्ति विषयक अधिकार

भारतीय समाज में स्त्रियों के सम्पत्ति के अधिकार के बारे में विचार किया गया है जिनके कारण वे सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त करती थीं। केवल अपवाद स्वरूप कुछ वैदिक कालीन विवरण हैं जो उनके उत्तराधिकार पर प्रतिबंध लगाते हैं।[16] सम्पत्ति में प्रायः उसका हिस्सा रहता था। परिवार में वह पुत्र से वह किसी प्रकार कम नहीं समझी जाती रही। दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ पुत्री समझी जाती थी।[17] अपने भाई के न रहने पर वह अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मानी जाती थी।

वैदिक काल में स्त्री को सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार किया जाता था तथा वह व्यवस्था चौथी शताब्दी ई0पू0 तक समाज में प्रचलित थी।[18] किन्तु दूसरी सदी ई0पू0 में आकर स्त्री शिक्षा पर अनेक प्रतिबंध लग गया। कुछ अनुदार धर्मशास्त्रकारों ने जिस स्त्री के भाई के न रहने पर उसके उत्तराधिकार को स्त्रीकार नहीं किया। इन धर्मशास्त्रकारों में आपस्तम्ब, वशिष्ठ, गौतम इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। वहीं दूसरी तरफ अन्य शास्त्रकारों ने अत्यन्त उदारतापूर्वक पुत्री के उत्तराधिकारी होने के मत का प्रतिपादन किया है। महाभारत में स्त्री के स्वत्व को पुत्र के बराबरी में स्वीकार कियाग या है तथा यह कहा गया है कि अगर अभ्रतृका को पूरी सम्पत्ति नहीं मिलती तो आधी अवश्य मिलनी चाहिए।[19] इस प्रकार कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, वृहस्पति, नारद, कात्यायन, अल्बेरूनी एवं विज्ञानेश्वर जैसे शास्त्रकारों ने पिता की सम्पत्ति में भाई के न होने पर अधिकार मिलने के पक्ष में समर्थन दिया है।

वैदिक साहित्य में विधवा का सम्पत्ति में अधिकार हो स्वीकार नहीं किया गया है। तैतरीय संहिता एवं ब्राह्मण ग्रंन्थों में पति की मृत्यु पर विधवा को सम्पत्ति में कोई अधिकार की बात नहीं करते हैं। तृतीय शताब्दी ई0पू0 तक विधवा के सम्पत्ति विषयक अधिकार को मान्यता नहीं मिली थी। आपस्तम्ब ने विधवा के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार नहीं किया है तथा यह मत व्यक्त किया कि व्यक्ति के मृत्यु के बाद पुत्र के अभाव में उसका उत्तराधिकारी सपिण्ड व्यक्ति होता था, इसके न रहने पर मृतव्यक्ति का आचार्य या उसके न रहने पर उसका अन्तेवासी सम्पत्ति का अधिकारी होता था।[20] कुछ ऐसा ही विचार विधवाओं के संदर्भ में मनु तथा मेधातिथि ने भी व्यक्त किया है। परवर्ती काल में विधवा के अधिकार को स्वीकृति मिली तथा पति की मृत्यु के बाद प्रायः विधवा ही सम्पत्ति की उत्तराधिकारणी होती थी। प्रथम शताब्दी ई0 तक आकर व्यवस्थकारों ने यह विचार किया कि यदि विधवा पुनर्विवाह नहीं करती है अथवा नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न नहीं करती है तो उसके भरण पोषण के लिए कुछ न कुछ प्रबंध होना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में विधवा को पति की सम्पत्ति में हिस्सा प्रदान किया गया। इसका समर्थन कौटिल्य, गौतम, विष्णु इत्यादि ने किया है, जबकि नारद, कात्यायन एवं भोज ने इसको स्वीकार नहीं किया है।

9.8 स्त्री का चरित्र

स्त्री के सामाजिक स्थिति के अध्ययन में उसके चरित्र का अध्ययन भी सम्मिलित है। समाज को आदर्श और सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए स्त्री के चरित्र एवं आचरण साफ सुथरा होना आवश्यक माना गया है। उत्तम चरित्र एवं व्यवहार से परिवार और समाज का उत्थान होता है। स्त्री की चारित्रिक शुचिता नैतिकता एवं निष्ठा से परिवार की गरिमा बनी रहती है। दुश्चरित्र, अनैतिक और आचरणहीन स्त्री समाज और परिवार के लिए कलंक मानी गई है। हिन्दू समाज में

विवाहित स्त्री का दूसरे पुरुष के साथ सम्बंध को घोर पाप माना गया है तथा ऐसी 'त्रुटि के लिए व्यवस्थाकारों ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाकर प्रायश्चित करने का निर्देश दिया है। महाभारत तथा कुछ धर्मशास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी है कि जो स्त्री पिता या बांधवों के अधिक धनी होने अथवा अपने सौन्दर्य के अभिमान से पर पुरुष के साथ संगति करके अपने पति का अपमान करे, उसे राजा बहुत लोगों के सामने कुता से कटवाये। कुछ स्मृतिकारों ने ऐसी स्त्री को उदारता पूर्वक दण्डित करने पर, उसका परित्याग न करके उसे दूसरे ऋतुकाल तक और इस व्यभिचार से गर्भ रह जाने पर सन्तान प्रसव तक घर के एकांत कक्ष अथवा बाहरी घर में रहने का दण्ड मिलता था और प्रायश्चित के बाद वह शुद्ध समझी जाती थी। इसके विपरित याज्ञवल्क्य ने ऐसी दुश्चरित्र स्त्री के सभी अधिकार छीन लेने तथा जीवन निर्वाह के लिए उसे केवल भोजन देने तथा अनादर पूर्वक गंदे वस्त्र पहनाकर भूमि पर शयन करने की व्यवस्था की है। मनु ने भी अपुत्रवती व्याभिचारिणी स्त्री की शुद्धि की बात करके उसके सिथत पर पुनः विचार किया है। बौधायन के अनुसार दुश्चरित्र स्त्री शुद्धि प्रतिमास होने वाले राजस्राव से हो जाती है, जिससे उसका पाप और मल दूर हो जाता है। इस प्रकार स्त्रियों के चरित्र के सम्बंध में हमें दोनों प्रकार के विचार प्राचीन भारत में दिखाई देता है। अर्थात स्त्री के चरित्र को लेकर सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही विचारों का समर्थन दिखाई देता है।

9.9 वेश्यावृत्ति से सम्बन्धित स्त्रियों की स्थिति

वेश्यावृत्ति पेशा को अपनाने वाली गणिकाओं का स्थान सामान्य लोगों से सम्मानजनक था। इसका प्रमुख कारण गायन, वादन तथा संगीत के प्रेमी लोग गणिकाओं के प्रति आकृष्ट रहा करते थे। नगरों में समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अपने आमोद–प्रमोद हेतु इनके तरफ आकर्षित रहते थे। उनका जीवन संगीत एवं ललित कला से परिपूर्ण था जो उनका प्रधान व्यवसाय भी था। वर्तमान की तुलना में प्राचीन काल में गणिका आदर और प्रशंसा के योग्य थी। राज्य एवं समाज में उसे उच्च स्थान प्राप्त था। महाभारत से ज्ञात होता है कि जिस समय गांधारी गर्भवती थी उस समय उसकी देखभाल एवं सेवा के लिए एक वेश्या लगायी गई थी। श्रीकृष्ण जब शान्ति स्थापना हेतु वार्ता करने के लिए कौरवों के यहाँ पधारे थे तब वेश्याओं ने उनका स्वागत किया था। बौद्ध ग्रंथ महावगग से सूचना मिलती है कि वैशाली नगर का भ्रमण करके लौटा हुआ एक श्रेष्ठि राजगृह आकर विम्बिसार से वहाँ के सौन्दर्य का बखान करते हुए आम्रपाली नामक गणिका की भी चर्चा करता है।[26] राजगृह की राजनर्तकी सालवती से उत्पन्न जीवक उस काल का विख्यात रावैद्य बना।

बाद के साहित्य में गणिका को विभिन्न नामों से जाना गया जैसे नर्तकी, सामान्या, रूपजीवा, वेश्या, देवदासी इत्यादि अनेक नाम व्यवहृत हुए। विभिन्न प्रकार की वेश्याओं के अतिरिक्त देवदासियों का भी एक वर्ग उत्पन्न हो गया था जो

मंदिरों की सेवा से सम्बद्ध था। अर्थात् जो सुन्दरियाँ देवमन्दिर के निमित्त नियुक्त की जाती थी, वे देवदासी कही गयी। इनका मुख्यकार्य देववमंन्दिर से नृत्य, गान तथा संगीत का मनमोहक कार्यक्रम प्रस्तुत करना था। ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा के समय सुल्तान के सूर्य मन्दिर में नृत्यगान में व्यस्त अनेक देवदासियाँ देखी थी। राजतरंगिणी, प्रबंध चिन्तामणि, कुट्टनीतम आदि अनेक उत्तर प्राचीन कालीन ग्रन्थों में इस का उल्लेख मिलता है।

9.10 सती प्रथा

सती का शाब्दिक अर्थ 'अमर' अथवा 'सत्य' पर स्थिर रहने वाली है जो पति–पत्नी का अटूट व अविच्छैद सम्बंध भी व्यक्त करना है। सती शब्द की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन साहित्य में अन्वारोहण (मृतपति के साथ चिता पर चढ़ना), सहगमन (मृतपति का अनुगमन करना), सहमरण (मृतपति के साथ मरना), और अनुमरण (यदि पति की मृत्यु विदेश प्रवास काल में हो गई हो तो उसका समाचार जानने के बाद, उसके पीछे मरना) आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं। अतः सती शब्द की व्यंजना उसके ऐतिहासिक विकास, प्रचलन और प्रसार से है, जिसमें मृत पति के प्रति विधवा स्त्री का अनुगम अनुराग त्याग और बलिदान परिलक्षित होता है। सती प्रथा का प्रारम्भ का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। सती प्रथा से सम्बन्धित साक्ष्य उत्तर वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। इनमें प्रमुख रूप से तैतरीय संहिता, अथर्ववेद एवं तैतरीय आरण्यक में इसका विवरण पश्चात व्यवहार में आया। महाभारत में सती प्रथा के कुछ स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। महाराज पाण्डु के मृत होने पर उनकी पत्नी माद्री ने अन्वारोहण किया था।[27] कृष्ण के पिता वसुदेव के मरने पर उनकी चार पत्नियों देवकी, मद्रा, रोहिणी और मदिरा ने सहमरण किया था।[28] कालीदास ने इस प्रथा का संकेत 'पतिवर्त्मगा' पद द्वारा किया है।[29] सती होने का गुप्तकालीन प्रथम अग्निराशि में प्रविष्ट होकर सती हो गई थी। हर्षचरित में प्रभाकर वर्द्धन की मृत्यु से पहले उसकी पत्नी यशोमती के सती होने का प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार राजतरंगिणी में शंकर वर्मन के मर जाने पर उसकी सुरेद्रवती नामक रानी के साथ अन्य रानियों के सती होने का प्रमाण मिलता है।[30] जोधपुर से प्राप्त एक अभिलेख में उल्लेखित है कि गुहिलवंशीय दो रानियाँ चिता में जलकर सती हो गई।[31] यद्यपि यह प्रथा विशेषकर राजपरिवार और अभिजात्य वर्ग में ही अधिक प्रचलित थी, किन्तु बाद में इसका प्रचलन जन साधारण में भी यदा–कदा होने लगा तथा जनता भी इस प्रथा की अनुगामिनी बन गई। इसी प्रकार जहाँ कुछ शास्त्रकारों ने इस प्रथा का समर्थन किया है, वहीं कुछ ने इसका विरोध भी किया है। इनमें शुद्रक, वाण, मेधातिथि, देवप्पा, भट्ट जैसे, लेखकों ने इसका तीव्र विरोध किया है।

अतः सती प्रथा हिन्दू समाज की अत्यन्त क्रूर, जघन्य, कृत्छना और निंदनीय प्रथा थी। सच्चरित्रता और सदाचरण के अनुपालन के लिए धर्म के नाम पर जीते

जी स्त्री का जल मरना अथवा जबरन सती होने के लिए उसे बाध्य करना अमानुषिक एवं घृणित कार्य था। दायभाग का यह कथन है कि बहुधा सम्पत्ति में से स्त्री को हिस्सा न देने के उद्देश्य से लोभ वश सती होने के लिए उसे विवध कर दिया जाता था[32], कुछ अर्थों में सही प्रती होता है। इस प्रकार स्त्री के प्रति हिन्दू समाज का व्यवहार दिनों–दिन कठोर होता गया। उत्तर वैदिक काल से पुरुष का उसके प्रति अविश्वास तथा अनुत्तरदायित्व की भावना बढ़ती गई। उसे हीन और निम्न भावना से देखा जाने लगा। कुछ शास्त्रकारों ने संसार की सभी बुराईयाँ उनमें आरोपित किय। महाभारत में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति स्त्री के दोषों को ही अपने सौ वर्ष के जीवन भर, सौ जिह्वाओं से गिनती रहे, तो भी वह उसके दोषों का बखान पूरा किये बिना ही मर जायेगा।[32] बौद्ध युग में भी स्त्रियों की सिथति कोई विशेष अच्छी नहीं थी। स्वयं महात्मा बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक काल में स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति नहीं दी थी। उनका स्त्रियों के प्रति बहुत अधिक विस्वास और भरोसा नहीं था। स्त्रियों के अस्थिर विचार, नियम और व्यवस्थाओं का पूर्णतः न पालन कर सकने की क्षमता तथा चंचल मन ही इस अंधविश्वास के प्रमुख कारण थे। पुराणों में कहा गया है कि वे कमी मर्यादा में नहीं रहती। उन्हें अवसर और स्थान नहीं मिल पाता, न ही प्रार्थना करने वाले पुरुष, नहीं तो वे साध्वी नहीं रह सकती।[33] मनु का भी कथन है कि स्त्रियाँ सुन्दर रूप की प्रतिक्षा नहीं करती, न ही युवावस्था का ध्यान रखती हैं, बल्कि पुरुष है चाहे सुन्दर हो या कुरुप उसके साथ सम्भोक गरती है।[34] इस प्रकार स्त्री के सम्बंध कतिपय विचार उसके दोष पक्ष को ही व्यक्त करते हैं। उसमें केवल दोष ही दोष थे, ऐसी बात नहीं थी, उनमें अनेकानेक गुण भी थे।

9.11 सारांश

स्त्रियों की दशा में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है। उसकी स्थिति में प्रागैतिहासिक काल से लेकर पूर्व मध्ययुग तक अनेक उतार चढ़ाव आते रहे हैं तथा उनके अधिकारों में तद्नुरुप परिवर्द्धन भी होते रहे हैं। प्रागैतिहासिक काल में वह पुरुषों के साथ कंघा से कंघा मिलाकर खाद्य संगह एवं शिकार के कार्यों में भाग लेती थी। वहीं अद्येतिहासिक काल एवं वैदिक युग में उनकी अवस्था अत्यन्त उन्नत और परिष्कृित थी। किन्तु, परवर्ती काल से उनकी स्थिति में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया जो अवनति के रूप में बाद के समयों तक चलता रहा। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को समाज में श्रेयस्कर स्थान नहीं मिला, बल्कि अपेक्षाकृत निम्न स्थान ही प्राप्त हुआ जिसके प्रमुख कारण राजनीतिक अस्थिरता और सामाजिक संकीर्णता थे। साथ ही इनके बारे में जैवकीय एवं मानसिक क्षेत्र की भी चर्चा की गई है, जो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक रहा है। उनके व्यक्तित्व अस्थिरता का दोष मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है। साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि उनमें न्याय की भावना बहुत कम होती है, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में ईर्ष्या की मात्रा बहुत

अधिक है। किन्तु यह अवधारणा पाश्चात्य समाज में देखी जा सकती है। भारतीय समाज में इस प्रकार की कोई भ्रांति नहीं है। भारतीय विद्वानों ने स्त्रियों के प्रति सम्मान प्रकट किया है तथा इन्हें 'देवी' और 'स्त्री' का प्रतीक माना है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह समान रूप से आदर की भागी थी। शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व एवं सामाजिक विकास में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। वह स्वतंत्रतापूर्वक शिक्षा ग्रहण करती थी और स्वच्छदन्तापूर्वक विचरण करती थी। पारिवारिक एवं सामाजिक सभी कर्तव्यों का वह निष्ठापूर्वक पालन करती थी। वह पति के साथ मिलकर ग्रह का याज्ञिक कार्य को सम्पन्न करती थी। यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी पत्नी चरितार्थ करती थी। वैदिक युगीन शिक्षा के क्षेत्र में उसका स्थान पुरुषों के समकक्ष था। शिक्षित कन्या की प्राप्ति के लिए विशेष अनुष्ठान की आयोजना की जाती थी। अतः उनके सामाजिक राजनैतिक की आयोजना की जाती थी। गतिविधियों का अध्ययन सभी कालों में विभिन्न उतार–चढ़ाव के साथ दिखाई देता है।

9.12 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति का मूल्यांकन कीजिए।
3. सती प्रथा पर टिप्पणी लिखिए।
4. स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिकार पर टिप्पणी लिखिए।

9.13 सहायक ग्रन्थ

1. मिश्र,जयशंकर,प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
2. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
3. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई 10 दास प्रथा

इकाई की रूपरेखा

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 आद्य–ऐतिहासिक काल में दास

10.3 वैदिक काल में दास

10.4 उत्तर वैदिक काल में दास

10.5 बौद्ध युग एवं परवर्ती काल में दास

10.6 मौर्यकाल में दास प्रथा

10.7 अंतिम मौर्य एवं गुप्त काल में दास प्रथा

10.8 प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में दास प्रथा

10.9 दासों का वर्गीकरण

10.10 दासों के प्रति व्यवहार

10.11 सारांश

10.12 शब्दावली

10.13 बोध प्रश्न

10.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.0 प्रस्तावना

भारत में दास प्रथा का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से है। 'दास' शब्द का मूल अर्थ आर्यों द्वारा भारत पर पहले आक्रमण में जीते गये लोगों से था। इसके बाद के अर्थ निःसन्देह में पकड़े गये कई दासों की दासता में कमी से विकसित हुए तथा यहाँ हमें भारतीय दासता की सम्भावित उत्पत्ति मिलती है। बाद के सय में हमें भारतीय साहित्य में दासों के कई वर्गों का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। आश्चर्य की बात यह है कि पाठ्य पुस्तकों में दासों की मुक्ति को एक पवित्र कार्य के रूप में सराहा गया था।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेगें–

- प्राचीन भारतीय समाज में दासों की स्थिति के विभिन्न आयामों के विषय में।
- दासों के प्रति किये जाने वाले व्यवहारों एवं कर्तव्यों के विषय में।
- दासों की सामाजिक एवं आर्थिक के विषय में।

10.2 आद्य–ऐतिहासिक काल में दास

पुरातात्त्विक उत्खनन के आधार पर आद्य्–ऐतिहासिक काल में दास प्रथा के विद्यमान होने की बात विद्वानों के द्वारा स्वीकार की जाती है। इस संदर्भ में हड़प्पा एवं मोहनजोड़दों केक समाज में भी दासों का अस्तित्व था, जो तत्कालीन जीवन में पराधीन होकर निम्नस्तर से सम्बद्ध थे। मोहनजोदड़ों के बड़े–बड़े भवनों में छोटे कमरों का निर्माण इस बात की ओर संकेत करता है कि इनमें सेवक अथवा दास रहते रहे होंगें।[1] ऐसे घरेलू सेवकों अथवा दासों के अतिरिक्त केन्द्रीय अधिकारी भी दासों अथवा मृत्यों को सेवा कार्य के लिए नियुक्त करते थे। इसके प्रमाण मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त एक ही कतार में बने हुए आवासों की दो पंक्तियों को देखी जा सकती है।

10.3 वैदिक काल में दास

दासों की व्यवस्था सीमा एवं श्रेणी दोनों में सीमित थी। ऋग्वेद में कई अंश नहीं हैं जहाँ पर कहा जा सके कि दास शब्द का उपयोग दास के अर्थ में किया गया है। इस शब्द का उपयोग विशेष रूप से पराजित शत्रु को दर्शाने के लिए किया गया है। दास राजाओं का उल्लेख मिलता है। व्युत्पत्ति के अनुसार दास का अर्थ है सेवा करने वाला पुरुष एवं दासी का अर्थ है सेवा करने वाली महिला। ये शर्तें स्वतंत्र व्यक्तियों पर भी लागू होती होंगी। वैदिक साहित्य में दासियों के उपहारों का उल्लेख मिलता है। महाकाव्यों एवं पुराणों में दासियों को रानियों एवं राजकुमरियों को सहनारी के रूप में वर्णित किया गया है। कई मामलों में वे राजाओं के लिए बच्चे पैदा करती थी। सर्वप्रथम ऋग्वेद में दासों के बारे में सूचना मिलती है जो प्रायः आर्यों के प्रतिस्पर्धी के रूप में वर्णित किये गये हैं। वास्तव में अनार्यों को 'दास', 'दस्यु' अथवा 'असुर' कहा गया है। दास कहे जाने वाले ये अनार्य आर्यों से पूर्णतः विलग थे। इसलिए ऋग्वैदिक कालीन अनार्यों को 'दास', 'भृध्रवाक' (जिनकी भाषा अस्पष्ट), 'अकर्मन', (वैदिक कर्मकाण्ड से शुन्य), 'अदेवयु', 'अमानुष' आदि कहा गया है।[3] ऋग्वेद के एक स्थल पर कहा गया है कि इन्द्र ने 'दासवर्ण' को नीचे गुहा में स्थापित किया।[4] दास को 'कृष्ण' वर्ण भी का गया है। एक उल्लेख से विदित होता है कि सांगदेव ने कृष्ण वर्ण का हनन किया था।

10.4 उत्तर वैदिक काल में दास

ऋग्वेदेत्तर साहित्य में भी दास प्रथा का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। तैतरिय

संहिता से एक उद्धरण से पता चलता है कि दासियाँ प्रायः यज्ञ वेदी के चारो ओर अपने सिर पर पानी के घड़े रखकर पृथ्वी पर अपने पैरों से आघात करते हुए (पैरों को पटक–पटक कर) नृत्य और मधुर गायन करती थी।[6] वृहद्‌रण्यक उपनिषद में उल्लेखित है कि याज्ञवल्क्य से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के पश्चात राजाजनक ने उनसे कहा "मैं प्रतीमान को विदेह देश देता हूँ। साथ ही आपकी दासता करने के लिए अपने को समर्पित करता हूँ।[7] छान्दोग्य उपनिषद में भी दासी का उल्लेख हुआ है। राजा अश्वपति ने सत्ययज्ञ से कहा, 'खच्चरियों से जुता हुआ रथ और 'दासियों' के साथ हार प्रवृत है।[8] सूत्र साहित्य में भी दासों का उल्लेख हुआ है तथा समाज में उच्च वर्गों की सेवा में सन्नहु रहना ही उनका प्रधान कर्म माना गया है। लेकिन इंसानों की क्रय–विक्रय अज्ञात नहीं थी। एक पौराणिक कथा के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण में अजीगर्त नाम के एक ब्राह्मण ने अपने बेटे सुनःसेप को एक सौ गायों के लिए राजकुमार रोहित को बेच दिया। पौराणिक वृत्तान्तों के अनुसार राजा हरिश्चन्द्र ने स्वयं को ऋषि विश्वमित्र के हाथों बेच कर दास बन गये। दासता के कुछ रूप इस प्रकार ज्ञात थे, लेकिन उनका सामाजिक महत्त्व नहीं था। यह भारत के बाहर के देशों में था। चूंकि भारतीय समाज एक जातीय प्रधान समाज था। तथा प्रत्येक जाति अथवा उपजाति का अपना व्यवसाय था, दास प्रथा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं था। भारतीय जीवन के सामान्य स्वरूप में निचले व्यवसाय भी जाति आधारित थे। इस प्रकार दासों को केवल घरेलू कार्यों में नौकर के रूप में नियोजित किया जा सकता था। इसके विपरित द्विज वर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय) से सम्बन्धित पुरुषों का उपयोग करना वर्जित था, जबकि वैश्य को दास के रूप में प्रयोग किया जा सकता था।

10.5 बौद्ध युग एवं परवर्ती काल में दास

बौद्ध एवं जैन दोनों ही ग्रन्थों में दासता का उल्लेख मिलता है। दासता का अस्तित्व भारत के बाहर विभिन्न देशों में भारतीयों के लिए अज्ञात नहीं थी। अस्सलायन सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यवनों का देश वहाँ था, जहाँ आर्य और दास दो ही वर्ण हैं। बौद्ध युग में दासों को सेना कृषि, उच्च वर्ग के आवास, मध्यम श्रेणी के गृहों और व्यापारियों के कार्यों के निमित्त नियुक्त किया जाता था। सेना में सैनिक के रूप में कार्य करने वाले दास 'दसकपुत्त' कहे जाते थे। इनमें ऐसे भी दास थे जो दास परिवार में उत्पन्न हुए किन्तु सैनिक बन गये। कृषि कार्य को सम्पन्न करने के लिए श्रेमिकों की आवश्कयता पड़ती थी इसके लिए भी दास रखे जाते थे। अभिजात्य वर्ग के सेवा में अनेक दास–दासियाँ सेवारत रहती थी। मध्यम श्रेणी के लोग भी दास–दासियाँ रखते थे। व्यापारियों के सामानों को ले जाने और ले आने के लिए दासों को नियुक्त किया जाता था।

दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय में दास–दासियों का उल्लेख समुचित रूप से किया गया है। जातकों ने तो दासों के अनेकों उदाहरण मिलते हैं।

दास—दासियों के क्रय—विक्रय, विभिन्न प्रकार के सेवा कार्य और भेंट उपहार आदि विभिन्न स्थितियों के संदर्भ में जातकों में उपलब्ध है, जिनसे स्पष्ट होता है कि उस युग में दास प्रथा समाज में विविध रूप में प्रचलित थी। एक जातक से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्ममण ने एक राजा से अन्य उपहारों के साथ सौ दासियों की मांग की थी, जो उसे प्रदान की गई थी। सतुशस्तम जातक में उल्लेखित है कि एक ब्राह्मण ने भिक्षा मांगकर सात सौ कर्षापण इकट्ठा किया था जिससे वह दास—दासियाँ क्रय करना चाहता था। जो दास व्यवस्था एवं हृष्ट—पुष्ट होता था। उसका अधिक क्रय—विक्रय चुकाना पड़ता था और दो जास कृषित एवं दुर्बल होता था उसका कम दाम लगता था। इसी प्रकार जो दासी अत्यन्त सुन्दर और रूपवती थी उसका भी अधिक क्रय मुल्य देना पड़ता था।

महाभारत में दास—दासियों को भेंट स्वरूप प्रदान करने के अनेकों उदारहण मिलते हैं। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ सम्पन्न करने के उपलक्ष्य में 88,000 ब्राह्मण स्नातकों को तीस—तीस दासियाँ दान में प्रदान की थी। वैन्य ने अत्रि को एक सहस्र रूपवती दासियाँ भेंट में अर्पित की थी। विराट पर्व में वर्णन मिलता है कि 30 दासियाँ दान में दी गई थी।

10.6 मौर्य काल में दास प्रथा

कौटिल्य का मत है कि मलेच्छ दण्डनीय नहीं है अगर वे अपनी सन्तानों को बेचते अथवा प्रदान करते हैं किन्तु आर्य दास नहीं बनाये जा सकते हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि मल्लेच्छ की सन्तान दास बनायी जा सकती थी, किन्तु आर्यों की सन्तान दास नहीं बनायी जा सकती थी, चाहे वह बेची जाय अथवा प्रदान की जाए।

अशोक ने अपने नवें शिलालेख में दासों के साथ उचित व्यवहार करने के लिए निर्देश दिया है। मेगस्थनीज ने भारत में यूनान की भांति अमानवीय और कठोरतम दास प्रथा नहीं देखी थी, इसलिए उसने इसका कोई वर्णन नहीं किया है। उसका कथन है कि भारतीय दास नहीं रखते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारत में दास प्रथा ही नहीं। दासप्रथा अवश्य थी, किन्तु यूनान की प्रणाली के अनुसार नहीं थी, जहाँ दासों को पशुओं से भी निम्न स्तर का माना जाता था। तथा उसके साथ सर्वदा कठोरतम व्यवहार किया जाता था। यही कारण है कि मेगस्थनीज ने भारत में यूनानी दास प्रथा जैसा कोई प्रभाव नहीं देखा।

मनु के अनुसार शुद्रों से दास कर्म कराना चाहिए याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन आदि स्मृतिकारों ने दासों का विस्तृत चित्रण किया हैं। दासों के प्रकार उनके कार्य, स्वामी द्वारा इनके प्रति किये जाने वाला व्यवहार तथा उनकी स्वतंत्रता आदि पर भारतीय धम्रशास्त्रयकारों ने विस्तार से विचार किया है। इस प्रकार मूलतः तकनीकी प्रगति के साथ ससामयिक भारतीय समाज में दास प्रथा का काफी

विकास हुआ। बुद्ध की शिक्षाओं का प्रभाव अशोक के धम्म पर भी वहीं था जो अशोक के शिलालेखों को लागू करते हुए उसमें दासों एवं सेवकों के साथ दयालु व्यवहार को भी शामिल किया। हालांकि सिद्धान्त और व्यवहार में अंतर था। अशोक का नौवां शिलालेख जो दासों एवं नौकरों के साथ दयालुता और उचित व्यवहार के धर्मनिष्ठा के कानून का आदेश देता है, यह भी दर्शाता है कि दास प्रथा मौर्य युग में प्रचलित थी। इसकी पूष्टि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी होती है जो दासता पर काफी हद तक प्रकाश डालता है। लेकिन अर्थशास्त्र कई मायनों में धार्मिक कानून पुस्तकों की तुलना में अधिक उदार है क्योंकि यह बाद के शास्त्रकारों द्वारा उल्लिखित नियमों की तुलना में काफी नरम नियम बनाता है। दासता के लिए बच्चों की बिक्री स्पष्ट रूप से प्रतिबंधित है, गंभीर आपात स्थिति को छोड़कर दास सम्पत्ति के मालिक होने और बिरासत में मिलने के हकदार हैं और अपने खाली समय में पैसा कमाने के हकदार है। दास लड़कियों की शुद्धता की रक्षा की जाती है, जो स्वामी किसी दास लड़की के साथ बालात्कार करता है, उसे उसको मुक्त करना होगा और यसे मुवावजा देना होगा।

10.7 अंतिम मौर्य एवं गुप्त काल में दास प्रथा

धर्मशास्त्र के अनुसार साधारण नौकर एवं दास के कर्तव्यों के बीच अन्तर यह था कि पहले वाले को केवल शुद्ध कार्य करना पड़ता था जबकि बाद वाले अशुद्ध कार्य करने की आवश्यकता हो सकती थी, जैसे झाड़ू लगाना, मानव मल हटाना एवं स्वामी की व्यक्तिगत सेवा करना। मनु के अनुसार, शुद्र का मुख्य कर्तव्य तीन उच्च जातियों की प्रतिक्षा करना है, लेकिन उसे दास के रूप में नहीं बनाया गया है। वास्तव में दास अपने स्वामी के घर का अधीस्थ सदस्य होता था। उसका भरण–पोषण इसके स्वामी की जिम्मेदारी थी। यदि वह पुत्रहीन मर जाता है तो उसका अंमि संस्कार करना स्वामी का दायित्व होता था।

दासों के साथ व्यवहार

साहित्य में दासों के साथ उनके मालिकों द्वारा बुरा व्यवहार किये जाने के कई संदर्भ प्राप्त होते हैं और दासों का जीवन अक्सर बहुत दुःखी रहा होगा। लेकिन सम्भवतः प्राचीन दुनिया के अधिकांश हिस्सों की तुलना में भारत में उनकी स्थिति बेहतर थी। मनु के अनुसार जब किसी दास दण्ड देने की आवश्यकता होती है तो सजा की मात्रा सामान्यतः उसके पिता द्वारा अनियन्त्रित पुत्र के मामले में दी जाने वाली सजा से अधिक नहीं होनी चाहिए। अर्थात दास को परिवार की तरह–रखना चाहिए। किन्तु साक्ष्यों से पता चलता है कि महिला दासों को कभी–कभी इतनी यातनाएँ दी जाती थी कि वे जहर खाकर अथवा कुँए या तालाब में कूदकर आत्महत्या कर लेती थी।

कर्तव्य

दस्तावेजों में दासों के कर्तव्यों के बारे में विस्तृत प्रावधान मिलते हैं। महिला दासों के कर्तव्यों के सम्बन्ध में जिसने खेती, दालों को पीसना फर्श को गाय की गोबर से पीपना, झाड़ू लगाना, पानी और ईंधन लाना, मालिक के परिवार का मानव मल फेंकना, गाय, भैस एवं बकरी का दूध निकालना दही जमाना, चारे के लिए घास लाना, निराई करना और घास काटना, खाना पकाना, पानी के भण्डार की सफाई करने जैसे अन्य घरेलू करवाये जाते थे।

10.8 प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में दास प्रथा

प्रारम्भिक मध्यकाल में दासों के होने का संकेत प्राप्त होता है। अधिकांश इस बात की तरफ संकेत करते हैं कि चौल काल में कई व्यक्ति पुरुष और महिलायें, जो अपनी आजीविका चलाने में असमर्थ थे, उन्होंने स्वयं स्वेच्छा से मंदिर में सेवा देने की पेशकश की और उन्हें पूर्ण दास के रूप में खरीदा गया। अक्सर माता–पिता अपने बड़ा हिस्सा दासियों द्वारा गठित किया गया था, क्योंकि सभी व्यवसाय जाति आधारित थे, केवल कुछ अनिर्दिष्ट व्यवसाय ही दासों को दिये जा सकते थे। मंदिर में सेवा उनमें से एक है।

10.9 दासों का वर्गीकरण

समय एवं परिस्थिति के अनुसार भारतीय समाज से अनेक प्रकार से दास हो जाया करते थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक प्रकार के दासों का उल्लेख किया है जो अपनी कठिनाइयों एवं मजबूरियों के कारण दास बन जाते थे जो इस प्रकार हैं –

1. **आत्म दास**–जो परिस्थितिय वश अपने को बेंचकर दासता स्वीकार करते थे।
2. **उदर दास**–जो अपना पेट पालने के लिए अपने को बेच देते थे।
3. **प्रक्षेपानुरूप दास**–जो अपने आप को बंधक रखकर धन लेते थे।
4. **दण्ड प्रणति दास**– जो राज्य द्वारा अर्थदण्ड से दण्डित होने पर और इस आर्थिक दण्ड को न चुका सकने के कारण दास होते थे।
5. हवजाहृत दासी से उत्पन्न दास।[19]

मनु ने सात प्रकार के दासों का वर्णन किया है[20]

1. ध्वजाहृत (युद्ध में जीता गया),
2. भक्त दास (भोजन प्राप्ति के लो में बना हुआ दास)

3. गृहज (दासी पुत्र)

4. क्रीत (मूल्य देकर क्रय किया हुआ)

5. दात्त्रिम (किसी के देने से प्राप्त दास)

6. पैत्रिक (पिता की परम्परा से चला आता हुआ दास)

7. दण्ड दास (दण्ड अथवा ऋण आदि न चुका सकने के कारण बना दास)

नारद ने ऐसे आठ प्रकार के दासों का उल्लेख किया है[21] (1) उपहार अथवा किसी अन्य प्रकार से प्राप्त किया हुआ दास (2) स्वामी द्वारा प्राप्त (3) ऋण न चुका सकने के कारण बना दास (4) जुए पर दाँव को लगाकर हारा गया (5) स्वयं दासत्व ग्रहण करने वाला (6) अपने को दास बनाने वाला (एक निचित समय के लिए) (7) दासी के प्रेमपाश में पड़कर अपने को दास बनाने वाला (8) आत्म विक्रयी (अपने को बेचने वाला दास)।

इस प्रकार दास बनने के अनेक प्रकार थे। इस सम्बंध में याज्ञवक्ल्य और नारद ने यह मत व्यक्त किया है कि वर्ण के आधार पर और उसके अनुसार ही व्यक्ति अपने स्वामी का दास बन सकता था। उदाहरण के लिए ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र दास हो सकते थे, क्षत्रिय के लिए वैश्य और शुद्र तथा वैश्य के लिए शुद्र दास हो सकते थे। वहीं, ब्राह्मण अपने से निम्न तीनों वर्णों का दास नहीं हो सकता था। इसी प्रकार न क्षत्रिय अपने से निम्न वर्णों का दास बन सकता था। और न वैश्य अपने से निम्न वर्ण का। अतः इस विवरण से स्पष्ट है कि दास का आधार भी वर्णगत था। कात्यायन का कथन है कि ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का भी दास नहीं हो सकता था। यदि वह किसी ब्राह्मण का दास बनना ही चाहता है तो वह वैदिक अध्ययन जैसे स्वच्छ कर्म को ही अपनाये, अस्वच्छ कर्म को नहीं।

जीमूतवाहन ने मत व्यक्त किया है कि जिसे भोजन और वस्त्र नहीं मिल पाते थे वे लिखित रूप में अपने को किसी हाथ बेचकर सेवा में लग जाते थे। दुर्भिक्ष जैसे दुर्दिन में प्रायः लोग अपना पेट न पाल सकने के कारण तथा अपना जीवन बचाने के निमित्त अपने को दूसरे के हाथ बेच देते थे। कथासरित्सागर में दास–दासियों के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। एक वर्णिक ने पाटलिपुत्र से अनेक दासियाँ क्रय की थी। कभी–कभी दासियों से श्रमिक अथवा ब्राह्मण विवाह भी कर लेते थे।

10.10 दासों के प्रति व्यवहार

दासों के प्रति किया जाने वाला व्यवहार प्रायः दासों के स्वामियों की प्रकृति पर निर्भर करता था कि वह स्वभाव एवं हृदय से कैसे हैं? उसी के अनुसार ही वे अपने दासों के साथ व्यवहार करते थें। कभी–कभी स्वामियों की अमानवीय बर्बरता

और कटुता के वे शिकार होते थे तथा छोटे से अपराध के लिए भी उन्हें प्रताड़ना एवं शारीरिक दण्ड भुगताना पड़ता था। अथवा इसके विपरित कभी–कभी अपने स्वामियों की दयालुता, मानवता एवं सहृदयता के कारण वे सहज एवं स्वभाविक जीवन व्यतीत करते थे। भारतीय साहित्य में दासों के प्रति होने वाले ऐसे अच्छे एवं बुरे अनेक प्रकार के व्यवहारों के दृष्टांत उल्लिखित है, जिनसे अनेक जीवन से सम्बंधित अनेकानेक उल्लेख मिलते हैं। एक जातक में उल्लिखित है कि एक–एक दासी प्रतिदिन मजदूरी करने जाती थी, किन्तु दुर्भाग्यवश एक दिन की मजदूरी घर नहीं ले आयी तो वह अपने स्वामी और स्वामी–पत्नी द्वारा ग्रह के द्वार पर ही ढकेल दी गई तथा रस्सियों द्वारा पीटी गई।

एक अन्य जातक से विवरण मिलता है कि एक दास अपने भाग्य का सदैव स्मरण किया करता था तथा मनाया करता था कि कहीं उसका भाग्य उसका साथ न छोड़ दे और वह अपने स्वामी द्वारा भंडागरिक जैसे पद से हटा न दिया जाय। वह सदैव अपने मन में अपने स्वामी के कठोर व्यवहार को लेकर इसी प्रकार की आशंका किया करता था कि "क्या ये हमें सदा भांडागारिक बनाये रखेंगे? जब किसी दिन ये मेरी त्रुटि देखेंगे तो मुझे मारेंगे, बन्दी बना लेंगे, मेरी देह को दागेंगे और दासों जैसा भोजन देंगे।" तक्क जातक की एक कथा से विदित होता है कि वाराणसी की एक श्रेष्ठि वस्य कन्या अपने दासों को अत्यन्त निर्ममता और क्रूरता पूर्वक पीटा करती थी। बेरसन्तर जातक के अनुसार एक ब्राह्मण स्वामी अपने दास और दासियों को अतिशय कष्ट दिया करता था। उसके विषय में कहा गया है कि वेस्सन्तर नामक नृप ने जब उस ब्राह्मण को दान में अपने पुत्र व पुत्री को प्रदान किया तब वह अपने हाथ में डण्डा लेकर उन दोनों के हाथों को लता से बाँध करके खींचता हुआ अपने गृह की ओर चला। उसका घर बहुत दूर था इसलिए रास्ते में जब रात होती थी तब वह उन दोनों को पेड़ के तने से बाँध देता था और स्वयं जंगली जन्तुओं के भय से पेड़ पर चढ़ जाता था। अंगुत्तर निकाय के एक संदर्भ से ज्ञात होता है कि एक हृदयहीन और क्रूर स्वामी के दण्ड से दास–दासियाँ सर्वथा डरा करती थी और वे अश्रुपूरित नेत्रों से रोया करती थी। इन विवरणों से स्पष्ट है कि समाज में ऐसे अनेक क्रूर एवं निर्मम गृहस्वामी थे जो अपनी दास–दासियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया करते थे और उन्हें आये दिन प्रताड़ित किया करते थे। मनु जैसे स्मृतिकारों ने भी दासों के अपराध करने पर रज्जु (रस्सी) अथवा वेणुदल (बाँस की छड़ी) से पीटने की बात कही है।

दासों के प्रति मानवीय एवं सहृदयता पूर्वक व्यवहार करने वाले स्वामियों के भी अनेक उदाहरण जातकों से प्राप्त होते हैं। उन दासों के लिए गृहस्वामी भोजन एवं वस्त्र का उचित प्रबंध करते थे। कभी–कभी दास–दासी गृह के अन्य सदस्यों की भाँति रहते थे तथा उसी के अनुरूप भोजन इत्यादि प्राप्त करते थे। कटाहक नामक दास की कथा एक जातक ने दी गई है, जो अपने स्वामी के पुत्र के साथ

पला, बड़ा हुआ और उसी के साथ शिक्षा प्राप्त की। इस प्रकार वह दो अथवा तीन शिल्पों में भी पारंगत हो गया। बाद में वह उस श्रेष्ठि के घर में भाण्डागारिक बना दिया गया। एक जातक कथा से विदित होता है कि एक ब्राह्मण स्वामी के पुत्र की मृत्यु हो जाने पर उसके दाह संस्कार का प्रबंध किया जाने लगा। उस समय उस घर की दासी के नेत्र अश्रुपूर्ण न होकर शुष्क थे। इस पर उससे एक व्यक्ति ने कहा, ''लगता है, तुम्हारे स्वामी पुत्र ने निश्चय ही तुम्हें कटु वचन कहे होंगे, दण्डित किया होगा, दुःख दिया होगा, इसलिए तुम्हारी आँखों में आँसू नहीं आये।'' इसका उत्तर देते हुए उस दासी ने कहा, ''हे स्वामी, आप ऐसी बात न कहें। मेरे साथ ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। मेरे स्वामी के पुत्र के ह्रदय में तो मेरे निमित्त क्षमा, दया और प्रेम की भावनाएँ थीं। वे मेरे लिए वैसे ही थे जैसे कोई पुत्र अपनी माँ का स्तन पान करके पलता है। ऐसे भी स्वामी हुए हैं जो अपनी दास–दासियों की इच्छा और कामना का भी आदर करते थे। एक ब्राह्मण पुरोहित को राजाने वरदान माँगने के लिए कहा तो उसने घर आकर अपनी पत्नी पुत्र और दासी 'पुण्णा' से पूछा, ''राजा ने मुझे वर देने के लिए कहा है, मैं क्या माँगूं?'' तत्पश्चात दासी ने कहा, ''मेरे लिए ऊखल, मूसल और सूप मांगना।'' कभी–कभी दास अपने स्वामी के पूर्ण विश्वासपात्र होते थे। नन्दजातक में वर्णित दास इसी प्रकार का विश्वसनीय व्यक्ति था, जिस पर उसका स्वामी पूर्णतः विश्वास करता था।

जातकों में ऐसी भी अनेक कथाएँ मिलती है जिनमें दासियों के साथ स्वामी अथवा स्वामी पुत्र के सम्बंधों का वर्णन किया गया है। उद्दालक जातक से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण राजपूरोहित का प्रेम सम्बंध एक दासी से हो गया। उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम उद्दालक था। जब वह बड़ा हुआ तब अत्यंत ज्ञानी और तपस्वी हुआ। भेंट होने पर पिता ने उससे कहा, ''तुम ब्राह्मण हो, इसमें कोई शंसय नहीं। एक अन्य जातक में यह कथा दी गई है कि राजगृह के अत्यंत सम्पन्न श्रेष्ठि का तिस्सकुमार नामक एक पुत्र था, जो भिक्षु बनकर संघ में चला गया था। इस घटना से उसके माता पिता अत्यधिक दुःखी एवं कष्ट में थे, क्योंकि तिस्स ही उसका अकेला पुत्र था जिसके बिना उनका जीवन सूना था। श्रेष्ठि माता–पिता का कष्ठ देखकर एक दासी को बड़ी दया आयी। उसने उन्हें सांत्वना दी कि वह अनेक पुत्र को संघ से लौटाने का भरसक प्रयास करेगी। वह दासी सुन्दर और रूपवती थी। वह तिस्स को सन्यास मार्ग से हटाने के लिए वहाँ गई तथा उसे अपने प्रेम सौन्दर्य के पाश में बाँध कर ले आयी। यह स्पष्ट है कि सुन्दर दासियों से स्वामियों के बहुधा विवाह हुआ करते थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि कोशल नरेश ने शाक्यवंशी महानाम क्षत्रि की दासी–पुत्री वासभखतिया से विवाह किया था, जिसका पुत्र आगे चलकर कोशल का युवराज बना।[22] स्वामी अथवा उच्च वर्ण द्वारा दासी से विवाह कर लिए जोने पर दासी की दासता समाप्त हो जाती थी। पतंजलि ने महाभाष्य में दासी को कामुकता की पात्नी के रूप में बृषली के साथ उल्लिखित किया है।

10.11 सारांश

भारत में दास प्रथा का प्रचलन अत्यन्ता प्राचीन काल से है। प्राचीन व्यवस्थाकारों ने दासों के प्रति उन्मुक्त मस्तिष्क तथा निर्मल हृदय के साथ विचार किया है। तथा यह स्वीकार किया है कि किन्हीं सिथतियों में उन्हें मोक्ष प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार प्राचीन भारत में दास प्रथा प्रचलित थी, लेकिन दुनिया के विभिन्न भागों की तुलना में इसकी सीमा कम थी। 'दास' और 'दासी' वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं, किन्तु वे दासों के बजाय अपने स्वामी एवं मालिकों के अधिक साथी थे। मनुष्यों की बिक्री और खरीद अज्ञात नहीं थी और प्राचीन भारतीय साहित्य दासों की विभिन्न श्रेणियों को संदर्भित करता है। हालांकि यह भी उतना ही स्पष्ट है कि हमारे कानून निर्माता सामाजिक जीवन में संस्था के विकास को प्रोत्साहित करने की तुलना में दासों को उदार बनाने के लिए अधिक इच्छुक थे। उदाहरण के लिए, बौद्ध साहित्य में इस बात का प्रमाण है कि मालिकों द्वारा पुत्र के आगमन की खुशी की खबर और त्याग की पूर्व संध्या जैसे शुभ अवसरों पर दासों को स्वेच्छा से मुक्ति प्रदान की जाती थी।

10.12 शब्दावली

1. आत्म दास–जो परिस्थितिय वश अपने को बेंचकर दासता स्वीकार करते थे।
2. उदर दास–जो अपना पेट पालने के लिए अपने को बेच देते थे।
3. प्रक्षेपानुरूप दास–जो अपने आप को बंधक रखकर धन लेते थे।
4. दण्ड प्रणति दास–जो राज्य द्वारा अर्थदण्ड से दण्डित होने पर और इस आर्थिक दण्ड को न चुका सकने के कारण दास होते थे।
5. हवजाहृत दासी से उत्पन्न दास।
6. ध्वजाहृत (युद्ध में जीता गया),
7. भक्त दास (भोजन प्राप्ति के लो में बना हुआ दास)
8. गृहज (दासी पुत्र)
9. क्रीत (मूल्य देकर क्रय किया हुआ)
10. दात्रिम (किसी के देने से प्राप्त दास)
11. पैत्रिक (पिता की परम्परा से चला आता हुआ दास)
12. दण्ड दास (दण्ड अथवा ऋण आदि न चुका सकने के कारण बना दास)

10.13 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत में दास प्रथा पर टिप्पणी लिखिए।
2. प्राचीन भारत में दासों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

10.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चानना देवराज, 1980, स्लेवरी इन एशिएन्ट इण्डिया, पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस
2. मिश्र,जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
3. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
4. सहाय,शिवस्वरूप, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

इकाई 11 प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली एवं प्रमुख शिक्षण केन्द्र तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, बल्लभी

इकाई की रूपरेखा

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्‌देश्य

11.2 तक्षशिला विश्वविद्यालय

11.2.1 प्रशासन

11.2.2 पाठ्‌यक्रम

11.2.3 वित्तीय संसाधन

11.2.4 प्रवेश प्रक्रिया

11.2.5 कतिपय छात्र

11.3 नालन्दा विश्वविद्यालय

11.3.1 परिचय

11.3.2 नालन्दा की इमारतें

11.3.3 प्रवेश प्रक्रिया

11.3.4 अध्ययन के पाठ्‌यक्रम

11.3.5 विश्वविद्यालय का प्रशासन

11.3.6 वित्तीय संसाधन

11.3.7 शिक्षक एवं विद्यार्थी

11.3.8 पुस्तकालय

11.4 विक्रमशिला विश्वविद्यालय

11.4.1 परिचय

11.4.2 भवन एवं इमारतें

11.4.3 पाठ्‌यक्रम

11.4.4 प्रशासन

11.4.5 शिक्षक और छात्र

11.4.6 शिक्षक और छात्र

11.4.7 विक्रमशिला का विनाश

11.5 बल्लभी विश्वविद्यालय

11.5.1 परिचय

11.5.2 पाठ्यक्रम

11.5.3 छात्र

11.5.4 वित्तीय व्यवस्था

11.5.5 बल्लभी का अवसान

11.6 सारांश

11.7 बोध प्रश्न

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

11.0 प्रस्तावना

'विश्वविद्यालय' की पदवी साधारणतया उच्च शिक्षा के केन्द्र को प्रदान किया गया है, जहाँ उच्च शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों को शिक्ष प्रदान किया जाता है। प्राचीन भारत में भी उच्च शिक्षा हेतु विश्वविद्यालयों के बारे में सूचन प्राप्त होती है जो 1000 ई0 पू0 के प्रारम्भ से लेकर 1200 ई0 अर्थात् लगभग 2000 वर्षो तक ऊच शिक्ष के केन्द्र थे। इन विश्वविद्यालयों में चार प्रमुख थे जिनमें तक्षशिला, नालन्दा, बल्लभी एवं विक्रमशिला प्रमुख थे।

तक्षशिला विश्वविद्यालय[1]– (1000 ई0पू0–500ई0पू0 तक इतिहास) प्राचीन भारत के विश्वविद्यालयों में तक्षशिला सबसे प्राचीन विश्वविद्यालय माना जाता है। यह 700 ई0पू0 से भी प्राचीन विद्या के केन्द्र के रूप में विख्यात था। इस स्थानन का नाम भारत के पुल तक्ष के नाम से पड़ा था। यहाँ राजा जनमेजय ने अपने पिता की मृत्यु के प्रतिशोध में प्रसिद्ध नाग–यज्ञ सम्पादित किया था। इस स्थल को चिन्हित करते हुए प्लीनी ने बताया है कि यह स्थान सिंधु नदी के पूरब दिशा में लगभग 55 मील दूरी पर स्थित था। कनिंघम को इस भू–भाग में अनेको स्तूप, निहार एवं मंदिर प्राप्त हुए थे।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- प्राचीन भारत के प्रमुख शिक्षा केन्द्रों के विषय में।

● प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था के महत्व के विषय में

11.2.1 प्रशासन

तक्षशिला उच्च शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में जाना जाता था, क्योंकि यहाँ अनेकों विषयो के उत्कृष्ट शिक्षक निवास करते थ। उनकी उत्कृष्टिता ने ही सुदूर के उपमहाद्वीप के सैकड़ो विद्यार्थियों को लम्बी दूरी की खतरनाक यात्रा के बावजूद भी अपनी तरफ आकर्षित कर सके। शिक्षकों द्वारा किये जाने वाले कार्यो में कोई समन्वय नही था एवं नही उनकी गतिविधियों को निद्रेशित करने के लिए राजा अथवा स्थानीय शक्तियाँ विद्यमान थी। प्रत्येक शिक्षक अपने आप में शिक्षक था तथा उसे काम में पूर्ण स्वायतता प्राप्त थी। पाठ्यक्रम की अवधि तय करने अध्ययन के पाठ्क्रम को निर्देशित करने, छात्रों को चूनने या अस्वीकार करने तथा प्रत्येक दिन के काम के मार्ग दर्शन के लिए नियम बनाने में उनका अधिकार अंतिम था। चूंकि प्रत्येक शिक्षक अपनी विशेषज्ञता के विषय में प्राधिकारी, इसलिए उनके बीच हितों के टकराव की बहुत कम गुंजाइश थी। साधारणतया अध्ययन के विभिन्न विषयों में विशेषज्ञत के लिए आठ साल लगते थे, लेकिन छात्रों कीद बौद्धिक क्षगता और उनके द्वारा दिखाई गई उर्जा और अनुप्रयोग की मात्रा के अनुसार अवधि को कम या अधिक बढ़ाया जा सकता था। परिक्षाओं को अनावश्यक माना जाता था, क्योंकि विषयों को पढ़ाने की प्रक्रिया महत्वपूर्ण एवं सम्पूर्ण थी और जबतक छात्र एक इकाई में पूरी तरह से महारत हासिल नही कर लेता, उसे अगले भागों में आगे बढ़ने की अनुमति नही थी। जिन छात्रों ने अपनी पढ़ाई पूरी कर ली, उन्हें कोई लिखित प्रमाण पत्र या डिप्लोमा नही मिला, क्योंकि यह माना जाता था कि ज्ञान स्वयं का पुरस्कार है और इसे रोटी कमाने या किसी स्वार्थी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उपयोग करना अपवित्रता है।

प्राचीन भारत में प्रचचित प्रणाली के अनुसार, प्राथमिक शिक्षा आठ वर्ष के आयु तक के बच्चों को दी जाती थी। और पारिवारिक शिक्षा आठ से 12 वर्ष की आयु तक दी जाती थी। इसलिए विश्वविद्यालयों में सिखने के लिए आने वाले छात्रों की उम्र 16 से 20 वर्ष होती थी। अनेक खतरे होने के बावजूद अभिभावक अपने बच्चों को इस सुदूर क्षेत्र में पढ़ने के लिए भेजते थे। अनेक संदर्भो से पता चलता है कि सैकड़ो की संख्या में छात्र बनारस, राजगृह, मिथिला, उज्जैन, कोशल, मध्य देशों में जैसे दूर–दराज के स्थानों एवं अतर में कुरू साम्राज्यों से इस शहर में आते थे। इस प्रकार तक्षशिला भारत की बौद्धिक राजधानी थी। देश के विभिन्न हिस्सों में शिक्षा के अन्य सभी केन्द्र इससे सम्बद्ध थे।

11.2.2 पाठ्यक्रम

तक्षशिला में साहित्यिक एवं तकनीकी दोनों विषयो मे विविध प्रकार के पाठ्यक्रम पढ़ाये जाते थे। दोनो पाठ्यक्रमों को दर्शाने के लिए वेद एवं शिल्प शब्द

प्रयुक्त किये जाते थे। इस विश्वविद्यालय में तीन वेदो का अध्ययन किया जाता था तथा चौथा वेद सम्भवतः अर्थवेद को सूची से हटा दिया गया था। इसका प्रमुख कारण उसकी प्रकृति धर्म निरपेक्ष प्रकार का होना बताया गया है। वही तकनीकी शिक्षा के अन्तर्गत एक सूची प्राप्त होती है। जिनमें पवित्र परम्परा एवं धर्मनिरपेक्ष कानून, सांध्य–याय (तक), वैशेषिक (सृष्टि का परमाणु सिद्धान्त), अंकगणित, संगीत,चार वेद, चिकित्सा, पुराण (पुरावशेष), सैन्य कला, कविता एवं संदेश वाहन सम्मिलित थे। लेकिन इस सूची में वेद और कई अन्य विषय शामिल है। जिन्हें शिल्प नही कहा जा सकता है। विभिन्न संदर्भो से कृषि वाणिज्य, मवेशी प्रजनन, लुहरी, बढ़ईगिरी, चिकित्सा, और सर्जरी तीरंदाजी, एवं सम्बद्ध सैन्य कला खगोल विज्ञान, ज्योतिष, अतकल जादू, साँप, जादू, गड़े धन प्राप्त करने की विद्या, संगीत, नृत्य, एवं चित्रकला इत्यादि पढ़ाये जाते थे।

11.2.3 वित्तीय संसाधन

इस विश्वविद्यालय में सोसाइटी द्वारा शिक्षकों को सभी आवश्यक वित्तीय सहायता प्रदान की गई, जिन्होंने एक सामान्य नियम के रूप में सभी छात्रों को मुक्त भोजन और आवास प्रदान किया। किसी भी छात्र को अनिवार्य रूप से कोई शुल्क देने की आवश्यकता नही थी। किसी विद्यार्थी को फीस का भुगतान न करने पर कभी भी संस्था से निष्कासन नही हुआ और न ही कोई भेदभावपूर्ण व्यवहार हुआ। वास्तव में इस नियम की कड़ी निन्दा की गई है कि फीस का भुगतान किया जाना चाहिए। ज्ञान को इतना पवित्र माना जाता था कि पैसे बदले इसका आदान प्रदान नही किया जा सकता था। विद्यार्थियों के शिक्षा का खर्च में केवल एक पगड़ी, एक जोड़ी सैन्डल, एक छाता अथवा एक ऊपरी हिस्से का परिधान, सम्मिलित था। समुदाय भी शिक्षा के प्रति अपने कर्तव्यों को समझता था। पैसे वाले लोग अधिकाशतः शिक्षा के दौरान छात्रों के भोजन की व्यवस्था करते थे। कभी–कभी विभिन्न स्थानों के राजा भी अपने खर्च पर छात्रों को विश्वविद्यलय में शिक्षा के लिए भेजते थे।

11.2.4 प्रवेश–प्रक्रिया

इस विश्वविद्यालय में चांडाल (पांचवी जाति) को छोड़कर सभी जातियों के लिए प्रवेश निःशुल्क था। विषयों के चयन के सम्बंध में छात्रों पर कोई प्रतिबंध नही था। यह पूरी तरह से छात्रों के पसंद के ऊपर छोड़ दिया जाता था। शिष्य ने विश्वविद्यालय में क्या सीखा यह ''ज्ञान के लिए ज्ञान की सिद्धि'' की उक्ति पर आधारित था। इस तरह यहाँ पूर्ण लोकतंत्र का भाव था।

11.2.5 कुछ प्रसिद्ध छात्र

यह दुर्भाग्य है कि हम तक्षशिला के प्रसिद्ध शिक्षकों के बारे में जानकारी से

अछूते है जिन्होंने तक्षशिला के पवित्र परिसर को सुशोभित किया था। यद्यपि जातको से इस विश्वविद्यालय के बारे में अनेको सूचनाएं प्राप्त होती है, किन्तु शिक्षकों के बारे में वह मौन है। परम्राओं में उल्लेखित है कि संस्कृत भाषा का प्रसिद्ध व्याकरणविद पाणिनि इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी था। चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री चाणक्य भी यही के विद्यार्थी थे प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक की शिक्षा यही से हुई थी। ऐसा कहा जाता है जीवक ने विम्बिसार के नासूर का इलाज किया था। इसके परिणामस्वरूप उसको दरबार में राजवैद्य के रूप में नियुक्त किया गया था। उसने उज्जैनी के प्रसिद्ध राजा प्रघोत को पिलिया रोग से मुक्ति दिलायी थी। उन्हे शल्य चिकित्सा के लिए भी जाना जाता था। इस संदर्भ में कहा जाता है कि एक धनी व्यापारी अपने सिर दर्द से पीड़ित था। व्यापारी ने बताया कि जीवक ने उसे तेजी से बिस्तर से बाँध दिया तथा सिर की त्वचा से मांस को काट कर अलग कर दिया। चीरे के प्रत्येक किनारे से दो कीड़े निकाले ततपश्चात् सिर की त्वचा को मरहम के साथ सिलकर घाव के किनारों को सिल दिया। यह भी कहा जाता है कि मुड़ी हुई आंतो को ठीक करने के मामले में भी वह सफल रहे थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय

11.2 परिचय

नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना शक्रादित्य ने किया था। तत्पश्चात इसके उत्तराधिकारी बुद्धगुप्तराग ने इसका विस्तार किया था। सन् 500 ई0 में नरसिंह गुप्त का पीछा करते समय हुण शासक मिहिरकुल के द्वारा इस स्थान का विनाश किया गया। किन्तु इस विनाश के पश्चात् नालन्दा और अधिक समृद्वि के साथ विकसीत हुआा। यद्यपि यह स्थान बुद्ध के प्रारम्भिक दिनों से ही एक महान धार्मिक एवं शैक्षणिक केन्द्र के रूप में था। किन्तु पांचवी शताब्दी के पूर्वाद्व में ही एक विश्वविद्यालय बन सका जब शैक्षिक तीर्थ यात्राओं की एक धारा उस स्थान की ओर प्रवहित होने लगी।

11.2.1 नालन्दा की इमारतें

यहाँ की इमारतों में प्रथम संधाराम का निर्माण शक्रादित्य (425 ई0—455 ई0) के द्वारा किया गया था। इनके पुत्र बुद्धगुप्तराज ने दक्षिण में एक और संघाराम बनवाया। इनके उत्तराधिकारी तथा गुप्तराज ने इसके पूर्व दिशा में एक अन्य निर्माण करवाया। बालादित्य (468 ई0—472 ई0) ने इसके उत्तर—पूर्व में एक और निर्माण करवाया। उन्होंने 300 फुट ऊँचा एक और भव्य विहार बनवाया था। उनके पुत्र बज्र ने पश्चिम दिशा में एक और संघाराम बनवाया। बाद में मध्य भारत में एक राजा वर्ष ने इसके उत्तर दिशा में एक अन्य संघाराम के साथ ही एक द्वार के साथ इस इमारतों के चारो ओर ऊँची दीवार का निर्माण करवाया। यहाँ ग्यारहवीं शताब्दी तक हिन्दू एवं बौद्ध दानदाताओं के द्वारा नई इमारतों का निर्माण जारी रहा। हवेंसांग ने

अपन समय नालन्दा में स्थापित छः मठो का उल्लेख किया है।

11.2.2 प्रवेश प्रक्रिया

नालन्दा विश्वविद्यालयों में भी उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी। तथा यहाँ प्रवेश इन्ही तक सीमित था जिनके पास परास्नातक की पढ़ाई की अनुसारण करने की आवश्यक पृष्ठभूमि विद्यमान थी। यहाँ भारत के साथ–साथ पड़ोसी देशों से भी विद्वान अपनी जिज्ञाषाओं को शान्त करने के लिए आते रहते थे जिनमें चीन, कोरिया, तिब्बत, एवं तोखारा सम्मिलित है। इस विश्वविद्यालय में हेतु विद्यार्थियों को कठिन प्रवेश परीक्षा से गुजरना होता था। हवेन्सांग ने कहा है कि यहाँ जो लोग प्रवेश के लिए इसमे थे उनमें से केवल 20 प्रतिशत लोगों को ही सफलता मिली, बाकी शेष का निराग होकर लौटना पड़ा। इस विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए विद्यार्थी की उम्र 20 वर्ष से कम नही होनी चाहिए थी। यह भी बताया गया है कि विश्वविद्यालय ने माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षा के लिए एक विभाग संचालित किया था जहाँ युवा छात्रों को निःशुल्क प्रवेश मिला था। यहाँ के छात्रों के लिए नैतिकता का उच्च मानदण्ड निर्धारित किया गया था।

11.2.3 अध्ययन के पाठ्यक्रम

विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम बहुत ही अच्छा था जिनमें सम्पूर्ण और सभी विषयों जैसे बौद्ध के साथ–साथ गैर बौद्ध एवं हनियान के साथ–साथ महायान को अपनाया गया था। इन सभी विषयों में से केवल कुछ ही अनिवार्य विषय थे। महायान एवं उससे सम्बन्धित बौद्धधर्म के अठारह स्कूलों का परिचय अनिवार्य विषय के रूप में निर्धारित किया गया था। महायान वादियों ने शुन्यवाद एवं विज्ञानवाद के सिद्धान्तों को प्रतिवादित किया था। खगोल विज्ञान पढ़ाया जाता था। इस उद्देश्य की पूर्ति लिए इस विश्वविद्यालय द्वारा वेघशाला एवं क्लेप्सीड्रा विशेष रूप से संचालित किये जाते थे। हवेन्सांग के अनुसार गह वलेप्सीड्रा ने सम्पूर्ण मगध के लिए सही समय प्रदान किया था। तंत्र विद्या इस सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में लोकप्रिय विषय था। इस विश्वविद्यालय में अन्य विषयों में वेदो तथा उनके अन्य छः सहायक विषयों जैसे चिकित्सा, व्याकरण, सांध्य, भाषाशास्त्र, कानून, दर्शन शास्त्र इत्यादि विषयों को पढ़ाया जाता था। प्रारम्भिक पाठ्यक्रम का अध्ययन करने के उपरांत विद्यार्थी को छः माह तक व्याकरण पढ़ना होता था। तथा पाणिनी के व्याकरण से सूत्रपाठ एवं धातुपाठ पढ़ने की आवश्यकता होती थी।

11.2.4 विश्वविद्यालय का प्रशासन

विश्वविद्यालय का मुढिया भिक्ख होता था जो वरिष्ठ चरित्र एवं विदूता से परिपूर्ण हो, जिसका चुनाव विभिन्न संघों के द्वारा होता था। यह भिक्ख विश्वविद्यालय के प्रशासनिक व्यवस्था को नियंत्रित एवं निर्देशित करता था।

अकादमिक एवं अन्य के लिए दो परिषद नियुक्त की गई थी। प्रथम विश्वविद्यालय परिषद में छात्रों को प्रवेश, विभिन्न विषयों में पाठ्यक्रमों को विनियमित करने शिक्षकों के बीच काम का बंटवारा, उचित अन्तराल पर परीक्षाओं की व्यवस्था, पाण्डुलिपियों की सुरक्षा एवं रख–रखाव एवं उनकी प्रतिलिपि बनाने की व्यवस्था करना था। जिसकी उन दिनों अत्यधिक मांग थी। दूसरी परिषद वित्तिय बचत, भवनों के निर्माण एवं मरम्मत भोजन की व्यवस्था कपड़े व दवाओं की व्यवस्था तथा छात्रों व शिक्षकों को कमरों का आवंटन इत्यादि की व्यवस्था करना होता था।

11.2.5 वित्तीय व्यवस्था

बौद्ध धर्म ने अपने आदेश में बहुत गढती के साथ कहा था कि किसी भी मिक्खू को सोना, चांदी अथवा कोई भी उपहार नकद में प्राप्त करने की अनुमति नही था। इस आज्ञा का उल्लघन गम्भीर अपराध माना गया। बौद्ध धर्म के आरम्भिक दिनों में इसका कठोरता से पालन किया जाता था। लेकिन बुद्ध ने अपनी जीवन काल में अनुमति देकर संघों को अमीर बननने की स्वीकृति दी। उनके शुभ चिन्तकों द्वारा मठो लाभ मिलता था। सघं के लिए स्वीकार किये गये उपहारों में पार्क, मण्डप तालाब, भवन एवं विहार इत्यादि सम्मिलित थे। कभी–कभी भिक्षुओं को भोजन का निमंत्रण दिया जाता था। कई बार 'भक्तो' के द्वारा रसद, घी, मक्खन, शहद, तेह, व गुड़ इत्यादि की आपूर्ति की जात धन के मामले में यह स्थान आरम्भ से ही समृद्व था जैसा कि इसके नाम से पता चलता है कि425 ई0 से ही विश्वविद्यालय के लिए बन्दोबस्ती प्रदान की गई थी। यहाँ ऐसे दान दाताओं का नाम सम्मिलित है, कुमारगुप्त प्रथम बुद्धगुप्त, तथागुप्त, बालादित्य, बज्र एवं हर्षवर्दन प्रमुख है। इस विश्वविद्यालय गुप्त एवं वर्धन शासकों की भांति वर्मन वंश के शासकों ने भी रूचि दिखाई। कहा गया है कि पूर्ववर्धन एवं यशोवर्मन ने इसे दान दिया था। बंगाल के पात राजाओं में देवपाल ने भिक्षुओं के लिए समाकक्ष के निर्माण एवं इसके रख–रखाव हेतु 5 गाँव दान में दिया था।

11.2.6 शिक्षक एवं विद्यार्थी

ऐसा कहा जाता है कि नालन्दा में एक समय में 10000 भिक्षु ठहरे हुए थे। इनमें से 1510 शिक्षक एवं 8500 छात्र थे जो उपलब्धियों के विभिन्न स्तरों से सम्बंधित तथा विभिन्न विषयों का अध्ययन करते थे। यह भी बताया गया है कि प्रतिदीन औसतन सौ व्याख्यान होते थे। औसतन प्रत्येक शिक्षक पर सात या आठ छात्र होत थे। जो व्यक्तिगत रूप से छात्रों पर ध्यान देना सुविधाजनक रहा होगा।

11.2.7 पुस्तकालय

विश्वविद्यालयके पास विभिन्न भाषाओं में विभिन्न विषयों पर पाण्डुलीपियों का एक बड़ा संग्रह था जिन्हें तीन शानदार इमारातों में उचित रूप से संग्रहित किया

गया था। इन इमारतों को क्रमशः रत्नसागर, रत्नोदजि, एवं रत्नरंजक कहा जाता था। ज्ञान के प्रचार में इससे काफी मदद मिली क्योंकि विदेशी विद्वानों द्वारा सैकड़ो पाण्डुलिपियों की नक्ल इस पुस्तकालय से तैयार करके अपने देश ले जाने का उल्लेख मिलता है। इत्सिंग ने कहा है कि उसे नालन्दा से कुल संस्कृत की रचनाएँ नकल की हुई प्राप्त हुई है।

11.2.8 नालन्दा के शिक्षक

नालन्दा के विद्वान देश भर में प्रसिद्ध थे। उन्होने अन्य धर्मो से सम्बन्धित कई पण्डितों को हराया तथा उन्हें बौद्ध धर्म में धर्मान्तरित किया। इस सूची में चीनी यात्री हवेनसांग का नाम भी शामिल है। नालान्दा में कुछ प्रसद्धि शिक्षको के बारे में सूचना मिलती है जो वहाँ निवास करते थे अथवा नालन्दा से जुड़े हुए थे। उनमें प्रसद्धि नाम नागार्जुन, वसुबंधु, दिननागा, पद्मसम्भव, शान्तरक्षित, आर्यदेव, राहुलभद्र, असंग, जयदेव, चन्द्रंकीति, धर्मपाल, गुणमति, स्थिग्मति, प्रथामित्र एवं जिनममित्र प्रमुख थे जो परम्परागत रूप से इस प्रसिद्ध विश्वविद्यालय से जुड़े हुए थे। इनमें से नागार्जुन बौद्ध धर्म के महायान शाखा के संस्थापक तथा माध्यमिक दर्शन के प्रणेता थे। आर्यदेव ने तीन ग्रंथो की रचना की थी जिनमें से अंतिम रचना 'माध्यमिका–भ्रमघटनामा' नामक ग्रंथ जम्बद्वीप के राजा के अनुरोध पर लिखा था। वसुबन्धु ने सांढय सिद्धान्त के ग्रंथ सांढय सप्तथी के विरूद्ध परमार्थ सप्तथी, नामक ग्रंथ की रचना की थी। असंग ने योगाचार्य को विकसीत किया था। स्थिरमति को बल्लभी विहार का संस्थापक माना जाता है। तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रेय इनको दिया जाता है।

धर्मपाल कांची के एक उच्चाधिकारी के पुत्र थे जो अपने युगवस्था में बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया था इन्होने 'वर्णसूत्रनाम' नामक एक व्याकरण ग्रंथ की रचना की थी शीलभद्र धर्मपाल के पश्चात नालन्दा के प्रधान पण्डित बने। इन्होंने आर्यबुद्धभूमि–व्याख्या नामक ग्रंथ की रचना की थी। शान्तिदेव राजा मंजूवर्मन के पुत्र थे। यह तीनो पिटको के ज्ञाता थे। यन्तरक्षित प्रथम पण्डित थे जिन्हे तिब्बत के राजा खी–सन्–देन–त्सांग के द्वारा आधिकारिक रूप से आमंत्रित किया गया था। पद्मसम्भव उदयन के राजा इन्द्रबोधि के पुत्र थे। यह योगाचार से सम्बन्धित थे। तथा तिब्बत में लामावाद से संस्थापक थे। उन्होंने तिब्बत में तंत्रवाद का प्रसार किया इसलिए तब्बित को जादू–टोना का छत कहा जाता है। कागसिल, सन्तरक्षित के समकालीन थे। उन्होंने तत्वसंग्रह पर एक टीका की रचना की थी।

चन्द्रगोमिन साहित्य, व्याकरण तर्क, खगोल, संगीत, कला एवं चिकित्सा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान थे, जिन्होंने 60 से कब ग्रंथ नही लिखे थे। बुद्धकीर्ति नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालय को जोड़ने वाले एक कड़ी के रूप में जाने

जाते है जो नालन्दा के अंतिम महान विद्वान थे, जिनका समय ग्यारहवीं सदी के अंतिम व बाहरवहीं सदी के प्रारम्भ में माना जाता है।

11.2.9 विश्वविद्यालय का अवसान

यह विश्वविद्यालय 11 वीं सदी तक अत्यअधिक उर्जा के साथ कार्य किया किन्तु जब विक्रमशिला विश्वविद्यालय को अत्यधिक राजकीय संरक्षण मिलना प्रारम्भ हुआ तब इसकी महानता को ग्रहण लगाने लगा। अंतिम झटका मुसलमान आक्रमणकारी बख्तियार खिलजी के द्वारा दिया गया तथा इस विश्वविद्यालय अमुल्य पुस्तकालय को जला दिया गया। इसके विनाश लीला की कहानी को बताने वाला कोई नही था।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय

11.3 परिचय

विक्रमशिला विहार उत्तरी मगध (बिहार) में गंगा के तट पर स्थित एक पहाड़ी पर स्थित एक प्रसिद्ध शिक्षण स्थल था। इसकी स्थापना राजा धर्मपाल ने आठवी शताब्दी ई0 (लगभग 775 ई0) में की थी। उन्होंने इस विश्वविद्यालय को उदारता पूर्वक अनुदान दिया जिससे वहाँ पढ़ने वाले निवासी अनिवासी भिश्रुओं को भोजन और आवास की व्यवस्था हो सके।

11.3.1 भवन एवं इमारते

क्रिमशिला विश्वविद्यालय की इमारतें अच्छी तरह से योजनाबद्ध एवं व्यवस्थित थी। वहाँ से 108 मंदिर तथा छः कालेज थे, जो कमल की पंखुडियो की तरह फैले हुए थे। इसके केन्द्र में सुन्दर महाबोधि मंदिर स्थित था जिसके छः द्वार छः कालेजो की ओर जाते थे। प्रत्येक छः इमारतों मे व्याख्यान के लिए हम बने हुए थे। यह सभी इमारते मजबूत दीवार से घिरी हुई थी।

11.3.2 पाठ्यक्रम

अन्य विश्वद्यिालय की तरह विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी कालेज पर स्तर पर विभिन्न विषयों में केवल विशेष शिक्षा प्रदान करता था। यह संस्था बौद्ध धर्म के महायान रूप का प्रतिनिधित्व करती थी। यहाँ महायान के साथ–साथ हीनयान से सम्बंन्धित पाठ्य पुस्तको को पढ़ाया जाता था। इसके अतिरिक्त हिन्दू विद्या की महत्वपूर्ण शाखाएं भी सिखाई जाती थी। इनमें व्याकरण, तर्क, शास्त्र, तत्व मीमंसा एवं कर्मकाण्ड पर विशेष बल दिया जाता था। जिसमें देवताओं की पूजा अथवा सर्वोच्च शक्ति की प्राप्ति के लिए जादुई एवं रहस्यमय सूत्र सिखाने वाले धार्मिक सिंद्धान्त शामलि थे।

11.3.3 प्रशासन

विश्वविद्यालय के दिन–प्रतिदीन के कामकाज से जुड़े विभिन्न विभागों के प्रभारी बोर्ड थे। इन विभिन्न बोर्डो के अध्यक्ष के रूप में एक मुख्य मठाधीश ने काम किया था। पूर्ण शैक्षणिक स्वायन्तता थी तथा विभिन्न विभागों के प्रभारी शिक्षक अपने विभागों में संचालित शैक्षणिक कार्यो के लिए जिम्मेदार थे। सीठाने के उच्च स्तर को सुनिश्चित करने के लिए छात्रों को विश्वविद्यालय में तभी प्रवेश किया जाता था, जब वे विभिन्न विषयों के प्रभारी प्रतिष्ठित अधिकारियों द्वारा दिये गये परीक्षणों को पूरा करते थे। छः विद्वान शिक्षकों ने विश्वविद्यालय की ओर जाने वाले छः द्वारों पर पहरा दिया। चणक (955–983 ई0) के शासन काल में निम्नलिखित छः प्रतिष्ठित तर्कशासत्रियों को इस काम के लिए तैनात किया गया था। इनमें रत्नाकरसंति को पूर्वी द्वार पर वागीस–वरकीर्ति को पश्चिम में नरोया को उत्तर में तथा प्रज्ञा–करामति को दक्षिण में रठा गया था। पहले केन्द्रीय द्वार पर रत्नवज्र तथा दूसरे द्वारा पर जनश्री मिल थे।

11.3.4 शिक्षक और छात्र

इस विश्वविद्यालय में कार्यरत शिक्षकों की सीखने की गहराई और चौडाई के लिए सीमाएं न केवल भारत बल्कि विदेशों में भी प्रसिद्ध थी। इसी का परिणाम है कि विश्वविद्यालय को तिब्बत के साथ साहित्यिक एवं सास्कृतिक सम्पर्क स्थापित करने में सफलता मिली। तिब्बत के विद्वानों का तंत्र में विशेष रूचि थी। ऐसा कहा जाता है कि जब विश्वविद्यालय शुरू हुआ था, तब इसके पहले संरक्षक बंगाल के राजा धर्मपाल नं0– 108 शिक्षकों और अन्य विशेषज्ञो को नियुक्त किया था। तिब्बत से बड़ी संख्या में विद्वान आये जिनके लिए भोजन एवं आवास की विशेष व्यवस्था की गई थी। भारत के अन्य भागो से विद्वान आये। ऐसा उल्लेख मिलता है कि इस विश्वविद्यालय में 3000 भिक्षु छात्र के रूप में अध्ययन करेट थे। विक्रमशिला के कुछ विद्वानों का नाम इस प्रकार है–

आचार्य बुद्ध ज्ञानपद, जिन्हेंराजा धर्मपाल का पुजारी नियुक्त किया गया था। तथा बाद में विक्रमशिला में समन्वय के लिए आचार्य के रूप में नियुक्त किया गया। इसके अतिरिक्त वैरोचन रक्षित, जेतारी, प्रज्ञकरमति, रत्नाकर शान्ति, ज्ञानश्री, रत्नवज्र, वागीश्वर कीर्ति, दीपांकर, वीर्यासिंह, अभयकरगुप्त, तथांगत रक्षित, रत्नकीर्ति मंजूश्री, धर्मकीर्ति, एवं शाक्यसूरी भद्र नामक विद्वान सम्मिलित थे।

11.3.5 विक्रमशिला का विनाश

इस विश्वविद्यालय का दुःखद अंत सन् 1203 ई0 में कुतुबुद्दीन ऐबक का अधिकारी बख्तियार खिलजी के हुआ। उस स्थान पर निवास करने वाले बौद्ध भिक्षुओं सिर मुडवाये गये तथा वे सभी मार दिये गये। यहा कहा जाता है कि जब

आक्रमणकारी मुसलमानों की नजर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय पर पड़ी तब वे ग्रंथो की विषय सूचियों को जानना चाहते थे और किसी की तलाश कर रहे थे जो उन्हे आवश्यक सूचनाएं प्रदान करे। लेकिन वहाँ निर्दयता पूर्वक नरसंहार हुआ तथा इस उद्देश्य हेतु वहाँ कोई उपलब्ध नही हुआ। ऐसा कहा गया है। कि आक्रमणकारी मूलवंश इमारतों को किला तथा पीले वस्तों में सिर मुड़ाये भिक्षुओं को सैनिक बैठे। किन्तु बाद में उन्हें महसूस हुआ कि यह एक विहार था।

बल्लभी विश्वविद्यालय

11.4 परिचय

वल्लभी विश्वविद्यालय पश्चिमी भारत के सौकड़ो में स्थित था। इस स्थान की पहचान प्राचीन वाल राज्य से है। यह बौद्ध अध्ययन का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। जो बौद्ध धर्म के हनिमान शाखा से सम्बन्धित था। एक समय वह शैक्षणिक क्षेत्र में कुछ समय के लिए नालन्दा विश्वविद्यालय का प्रतिद्वन्दी था। यह सन् 480 ई0से लेकर 775 ई0 तक मैत्रक राजवंश की राजधानी था। यह समुद्र तट पर स्थित था जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक महत्वपूर्ण बदरगाह भी था।

11.4.1 पाठ्यक्रम

यद्यपि यह विश्वविद्यालय बौद्धधर्म के हीनयान शाखा का समर्थक था किन्तु यह विशिष्ट एवं संकीर्ण नही था। यहाँ बौद्ध धर्म की शिक्षा के साथ–साथ ब्राह्मण विद्यार्थियों के आने के संदर्भ प्राप्त होते है। यहाँ धार्मिक विषयों के अतिरिक्त नीति (राजनीति विज्ञान राज्यनीति), वार्ता (व्यापार, कृषि), प्रशासन, थियोलाजी, कानून अर्थशास्त्र एवं लेखाशास्त्र जैसे विषयों का पठन–पाठन होता था। कुछ मामलों में इस विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों को राजा अपने राज्य में सरकारी कार्यो में सहायता हेतु नियुक्त करते थे।

11.4.2 छात्र

सातवीं शताब्दी के मध्य से जब हवेन्सांग इस स्थल को देर्णन गया था तब इस विश्वविद्यालय में 6000 भिक्षु पढ़ रहे थे। इनके निवास हेतु 100 से अधिक बौद्ध विहार उपलब्ध कराये गये थे।

11.4.3 वित्तीय व्यवस्था

इस विश्वविद्यालय के संचालन हेतु आवश्यक धनराशि वहाँ के नागरकिों द्वारा उपलब्ध करायी गई थी। जिनमें से कई बहुत धनाढ़य एवं उदार थे। गैतक राजा इस विश्वविद्यालय के सरक्षक थे तथा इसके कार्यो को संचालित करने व पुस्तकालयों को सुसज्जित करने के लिए भरपूर अनुदान प्रदान किया।

11.4.4 वल्लभी का अवसान

सन् 775 ई0 में यहाँ के संरक्षक राजाओ ने एक अरब आक्रमण को सामना किया जिसके परिणामस्वरूप विश्वविद्यालय को एक अस्थायी झटका लगा। हालांकि, विश्वविद्यालय का कार्य बाद में भी निर्वाध रूप से जारी रहा, क्योंकि मैत्रक राजाओं के उत्तराधिकारियों ने समृद्ध दान के साथ विश्वविद्यालय को संरक्षण देना जारी रखा। लेकिनर इस अवधि के बाद विश्वविद्यालय के बारे मे अधिक कुछ जानकारी प्राप्त नही होता है। सम्भवतः संरक्षक राजाओं की पराजय से इसकी सभी शैक्षणिक गतिविधियों को गहरा झटका लगा होगा जो बारहवीं शताब्दी तक जारी रही।

11.6 सारांश

'विश्वविद्यालय' की पदवी साधारणतया उच्च शिक्षा के केन्द्र को प्रदान किया गया है, जहाँ उच्च शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान किया जाता है। प्राचीन भारत में भी उच्च शिक्षा हेतु विश्वविद्यालयों के बारे में सूचन प्राप्त होती है जो 1000 ई0 पू0 के प्रारम्भ से लेकर 1200 ई0 अर्थात् लगभग 2000 वर्षो तक ऊच शिक्ष के केन्द्र थे। इन विश्वविद्यालयों में चार प्रमुख थे जिनमें तक्षशिला, नालन्दा, बल्लभी एवं विक्रमशिला प्रमुख थे।

11.7 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत के प्रमुख शिक्षण संस्थानों के विषय में एक निबन्ध लिखिए।
2. नालन्दा विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक महत्व का मूल्यांकन कीजिए।
3. तक्षशिला विश्वविद्यालय के शैक्षिक महत्व पर प्रकाश डालिए।

11.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. आण्टो,डी0जी0 यूनिवर्सिटीज इन एन्शिएन्ट इण्डिया महाराजा सयाजीराव, यूनिवर्सिटी ऑफ बडौदा
2. अल्तेकर,ए.एस. एजूकेशन इन एशिन्यन्ट इण्डिया।

इकाई 12–कर प्रणाली एवं राजस्व व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 करारोपण के सिद्धान्त

12.3 कर ग्रहण के स्रोत

12.3.1 राजकीय सम्पत्ति से आय

12.3.2 व्यापार और वाणिज्य से आय

12.3.3 प्रकीर्ण आय

12.4 अन्य कर

12.5 राजस्व व्यवस्था

12.6 सारांश

12.7 बोध प्रश्न

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में शासन व्यवस्था के उद्भव काल से ही किसी न किसी न किसी रूप में वित्त अवश्य बिना ही, बहुत हद तक रोका जा सकता है। करारोपण का अधिकार सरकार को स्वतः प्राप्त होता है। किन्तु प्राचीन भारत के चिन्तको के अनुसार यह अधिकार शर्तहीन नही है। यहाँ तो यह बात थी कि 'रक्षा नही तो कर नही'। निष्ठुर और अन्यामी प्रशासन के दुष्ट जनों से प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म था। वास्तव में करारोपण अपने मूल उद्देश्य से कमी विचलित नही हुआ।

कोष राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग था। कोष पर उचित ध्यान दिया जाता था। जो राज्य के सभी उपमों का अवलम्ब होता था। पूर्व बौद्धिक काल में राजस्व के तीन मुख्य स्त्रोत होते थे– धनी पुरूषो द्वारा स्वेच्छयता उपहृत भाग विजित कबीलों से बलात् वसूली गई बानी और दुर्बल राजाओं द्वारा चुकाई गयी। बल्कि इसमे हय सर्वप्रदान कृषि उपज में राजांश और पशु के रूप में अंश दान की अवधारणा पाते है। जो अनिवार्य ढंग के थे। जैसे–जैसे राज्य का विस्तार होता गया वैसे–वैसे करों का बहुगुणन होता गया और वित्त के महत्व को अनुभव होने लगा। अतः स्मृतियों, बौद्ध साहित्य रामायण, महाभारत अर्थशास्त्र समकालीन, साहित्य,

विदेशियों के वृतान्तों उत्कीर्ण लेखों से हमें यह आभात मिलता है कि पूर्व काल में राजस्व प्रणाली लोक वित्त प्रणाली किस प्रकार चलती थी।

12.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- प्राचीन भारत में कर प्रणाली के विभिन्न स्रोतों एवं महत्व के विषय में।
- प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था में राजस्व एवं कर प्रणाली के महत्व के विषय में।

12.2 करारोपण के सिद्धान्त

महाभारत के प्रसंगों से प्रकट होता है कि राज्य अपने कोष की पूर्ति के लिए 'वार्ता' के क्षेत्र में किस तरह अनेकों प्रकार के क्रिया–कलाप करता है। आय के स्त्रोत वाले संसाधन राजकीय सम्पत्ति के अन्तर्गत समाहित है। राजकीय भूमि, परती भूमि, वन, खान, प्राकृतिक जनाशय और जलागार जिनसे राज्य को काफी आय होती थी। खान और नमक भण्डार पर भी राजा का अधिकार होता था। राज्य के प्रत्यक्ष राजस्व के अलावा कई गौणा आय के स्त्रोतो से भी राजकोष भरा जाता था, जैसे कर, शुल्क जुर्माना, दण्ड और अन्य अवश्य स्त्रोत। कर प्रशासन सेवा के बदले राजा को मिलने वाली रकम परिश्रमिक समझा जाता था।

कौटिव्य और मनु दोनो का सुझाव है कि राजा को उचित कर उगाहना चाहिए। और करारोपण करने में कुछ सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। राजा की उपमा माली से दी गई है। उसे कर इकट्ठा करने के लिए नाजायज तरीके से नही अपनाना चाहिए। राजा को मधुमक्खी की कला अपनानी चाहिए जो मधु संचय करते हुए वृक्ष को कोई पीड़ा नही पहुँचाती है। उसे सम्पत्ति के संग्रह एवं वितरण (शोषण और भरंण) में सुर्य और इन्द्र दोनो होना चाहिए। राजा को यह बात नही भुलनी चाहिए कि उसे जितना अपयश कर पीडन से होगा, उतना और किसी से नही। करा–रोपण ऐसा होना चाहिए। कि प्रजा को उसका भार मालूम न हो। जिसे अपने निर्वा का उपया नही है, उससे कुछ भी नही भांगना चाहिए। करारोपण धीरे–धीरे कोमलापूर्वक और उचित समय में किया जाना चाहिए। वाणिज्य वस्तुओं पर कर सभी बातों पर समुचित विचार करके स्थायी रूप से निर्धारित करना चाहिए। कर इस तरह न लगाया जाय कि आर्थिक स्त्रोत ही पंगु हो जाये। शासन के व्यय में अधिक से अधिक कटौती की जाय, ताकि राज्य अपना कोष बढ़ा सके। कौटिल्य ने लचीलेपन के सिद्धान्त को इन शब्दो उद्वत किया है कि राजा को अपनी प्रजा के प्रति क्रर और निष्ठुर हुए बिना अपने कोष का भाण करना चाहिए। कुराल ने भी ऐसे ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार कर संतुलित और सुविधानुसार बहुरूपी होना चाहिए। 'स बराबर' वाले सिद्धान्त का प्रयोग केवल

दुर्भिक्ष के समय अथवा संकटकाल में किया जाये।

12.3 कर ग्रहण के स्रोत

राजस्व के मुख्य स्रोत राष्ट्र (देश का भूभाग), दुर्ग (नगर और किला) यानि (खदाने), सेतु (सिचाई निर्माण), वन ब्रज (पशु समूह), वाणिज्य वस्तुएं निख्यात निधि (धरती में गड़ा खजाना) तथा, अन्य सर्वेच्छिक उपहार प्रमुख थे। अतः राजस्व के स्त्रोतो को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है।

1. **निजी भूमि से आय**– प्राचीन भारत में राजस्व का मुख्य स्त्रोत भूमि रहा है। उपज का छण भाग वस्तु के रूप में राजा का अंश होता था। स्कृतियों रामायण और महाभारत मे अन्न में राजा के अंश को बलि कहा गया है। अशोक के सम्मिन देई स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि लुिम्बनी में अपवादिक रूप में भूराजस्व की दर छठे भाग से घटाकर आठवे भाग कर दी गई थी। गौतम ने उत्तम मध्यम और अघम भूमि पर क्रमशः षष्ठांश अष्टमांस एवं दशमांस राजस्व का विधान किया है। दर में मिट्टी की उर्वरता और सिचाई सुविधा के अनुसार अंतर किया जाता था। वाशिष्ठी पुत्र पुलर्माव के काले बौद्ध गुप्त लेख से प्रकट होता है कि 'भाग' के अलावा और भी कई तरह के कर थे। 'बल्कि' वैदिक काल में पराजित शत्रुओं से कर लगान में से राजकीय अंशदन के रूप में परिणत हो गई। पूर्व काल में बलि ऐच्छिक वस्तु थी, किन्तु बाद में इसका स्वरूप बदल गया और यह नकद देय हो गई। अशोक ने लुम्बिनी को बलि से पूर्णतः मुक्त कर दिया था। कि भाग बलि और कर राष्ट्र से होने वाली आम थी। बलि को मिलिन्दपन्हों में यह आपातकालीन कर कहा गया हे। मनु और गौतम इसका प्रयोग करों के सामान्य अर्थ में करते है, जबकि स्मृतियों में इसे 'भाग' का सभा प्रयोग करो के सामान्य अर्थ में करते है, जबकि स्मृतियों में इसे भाग का सभा नार्थक माना गया है। और कही–कही यह 'कर' का पर्यावाची भी माना गया है। हालांकि 'भाग' बलि और कर ये तीनो भिन्न–भिन्न अर्थ वाले शब्द है। बलि को उत्पीड़क कर भी माना गया है। यह विष्टि के साथ–साथ लगायी जाती थी। रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में 'भाग' 'बलि' और शुल्क को नियमित कर कहा गया है। हमे ग्रामीण क्षेत्रों से वसूले जाने वाले कर, पिण्डकर, प्रतिकर आदि के भी निर्देश मिलते है। विष्टि (बेगारी) राज्य को आय को एक स्त्रोत प्रतीत होता है तथा कौटिल्य के अनुसार इसके अन्तर्गत कुछ गॉव विष्टि अर्थात अनिवार्य निःशुल्क श्रम देते थे। भट्ट स्वामी के अनुसार यह कर बेगारी कर के बदले ली जाती थी। और इस प्रकार ली गई बेगारी का हिसाब राज्य के अधिकारी रखते थे। विष्टि का उल्लेख हिरण्य शुल्क और कर के साथ मिलता है। 'प्रतिभाग' राजा को दिया जाने वाला फल

इत्यादि उपहार था और कभी–कभी दान में दिये गये ग्राम इस दायित्व से मुक्त थे। 'हिरण्य' भी एक प्रकार का कर था। जो किसानो पर लगाया जाता था। यह खास फसलों नकद एवं वस्तु दोनों ही रूपो में वसूला जाता था। यह भूमि पर लगने वाला एक नकदी प्रभार था। प्रणय 'संकट के समय विभिन्न प्रकार के पशुओं पर लगाया जाता था। रज्जु जमीन नापने की एक प्रकार की ईकाई था और रज्मुक का काम ग्रामीण क्षेत्र में कर निर्धारक नापी (सर्वेक्षण0) करना था। कौटिल्य ने इसे प्रदेशाधिकारियों से राजकोष में होने वाली आय का एक स्त्रोत कहा है। यह भी हो सकता है। कि यह एजुको द्वारा वसूला जाने वाला एक प्रकार का कर हो। 'वस्तु' का उल्लेख कौटिल्य ने नगरों अथवा दुर्गो से होने वाली आय के अन्तर्गत किया है। यह सम्भवतः नीजी भवनों पर लगने वाला कर था। करारोपण के लिए घरों में नम्बर दिये जाते थे। भूमि और भवन की बिक्री पर भी कर लगता था।

12.3.1 राजकीय सम्पत्ति से आय

राजा की भूमि (खास महल) वित्त का मुख्य आधार होती थी। ऐसी भूमि के कृषक अपानी उपज का चौपाई हिस्सा राजा को चुकाते थे। जो राजकोष में जमा होता था। डियोडोरस के अनुसार राजकीय भूमि पर नियोजित कृषक राजकोष में भूमि का लगान चुकाते थे और उसके साथ–साथ अपनी कुल उपज का चतुर्याश भी बॉट देते थे। कौटिल्य ने कहा है कि अपने बीज और बैल से खेती करने वाले किसान उपज में राज्य से आधा हिस्सा पाते थे। स्मृतियों में भी यही दर मिलती है। राजकीय भूमि उन्ही को दी जाती थी जो उसमें खेती कर सकते थे।

राज्य के आय के अन्य स्त्रोत का भी उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। इनमें 'पारिहाणिक' (किसी नुकसान के लिए अन्न के रूप में किया जाने वाला हरजाना) 'सेतु' (पुष्पोद्यान फलोवान, शाकोवान, सिंचित भूमि आदि से होने वाला आय), 'उदकभाग' (राजकीय सिंघाई साधन से आपूर्ति किये गये पानी का शुल्क), 'कौष्ठेय' (राजाद्वारा बनवाये गये तड़ागो और झीलों पर लगने वाला कर), इत्यादि सम्मिलित है। वन, विशेषकर 'हस्तिवन' (हाथी वाला जंगल) एवं द्रव्यवन (इमारती लकड़ी इत्यादि देने वाला वन) राज्य की आय के प्रमुख स्त्रोत था। खानों पर राज्य का एकाधिकार था और वह राजकोष के अच्छे स्त्रोत थी। स्ट्रेबो ने खनिज लवण के एक पर्वत का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने ऐसे दस केन्द्रो का उल्लेख किया है। जिन दानों का काम कठिन था, वे नीजी व्यक्तियों का 'प्रक्रय' (लगान) अथवा 'भाग' (बँटाई) पर दी जाती थी। भूमि के भीतर पायी गयी धातु का आधा हिस्सा राजा का होता था। नमक भी एक महत्वपूर्ण आय स्त्रोत था। नीजी व्यक्ति राजा की अनुमति से ही नमक बना सकता था। नमक के आयात पर शुल्क भी लगता था।

12.3.2 व्यापार और वाणिज्य से आय

व्यापार पर लगने वाले कर को 'शुल्क' के रूप में परिभाषित किया गया है। आपहतम्ब ने इसे समान्य कर और वाणिज्य वस्तु पर लगने वाला कर कहा है। मनु ने इसका प्रयोग वणिकों द्वारा देय कर–राशि के रूप में किया है। कौटिल्य ने इसे दुर्ग के अन्तर्गत राजस्व की एक मद बताया है तथा एक अन्य स्थल पर इसे 'बर्तनी' 'तरदेय' 'गुल्मदेय' 'अतिवाहनिक' आदि अन्य व्यापारिक आर्यो से पृथक किया है। अवदानशतक एवं दिव्यावदान में शुल्क का उल्लेख 'गुल्म' और 'तरदेय' के साथ किया है। यह बन्दरगाहों में वणिकों से भी वसूला जाता था। इसका उल्लेख रूद्रदामन के जूतागढ़ अभिलेख में भी हुआ है।

शुल्क के अलावा और भी कई कर थे, जैसे 'द्वारदेय' (नगर में आने वाले विभिन्न सामानो पर लगता था) 'वतनी' (सड़क कर अथवा सीमा कर जो विदेशी वस्तु पर सीमा पार करते समय ली जाती थी) 'तरपण्य' (घाटकर) 'अतिवाहिक' (एक परिवहन शुल्क जो नदी और समुद्र के तट पर लिया जाता था।) 'गुल्मदेय' (उन वणिको द्वारा देय होता था जो विदेशी माल का कारोबार करते थे गुल्म का अर्थ सैनिक टुकड़ी अथवा रक्षक दल। सम्भवतः व्यापारियों की सुरक्षा में लगे सैनिको के बर्च की पूर्ति के लिए यह कर लिया जाता था।)

12.3.3 प्रकीर्ण आय

प्रकीर्ण आय के अन्तर्गत 'विष्टि' को शामिल किया गया है। विष्टि एक प्रकार का बलपूर्वक किया गया श्रम था जो वर्तमान में बेगार के नाम से जाना जाता था। कुप्य विलोप जैसे करो का अर्थ करना कठिन है। उत्संबा वह कर था जो राजा के पुत्र के जन्मोत्सव के अवसर पर संग्रहीत किया जाता था इसको राजा को दिये जाने वाले उपहार के अर्थ में भी किया जाता है, जिसके लिए कौटिल्य ने 'औपायनिक' शब्द का भी प्रयोग किया है। रत्संग और औपायनिक अलग–अलग आय स्त्रोत थे। 'व्याजि' तेल, घी, आदि पर उगाया जाता था। 'क्लप्त' नामक कर समुद्रतट अथवा नदी तट के निवासी चुकाते थे जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र में हुआ है। वेश्याएं कर के रूप में महीने में दो दिनों की अपनी कमाई चुकाती थी। विदूषक, नट, गायक नर्तक, आदि भी राजकोष से कर चुकाते थे। 'पारपलशुल्क' भी प्रचलित था। ब्रज पशु समूह मवेशी पर लगाये जाने वाला कर था। जुर्माना एवं हरजाना भी राजकोष का एक महत्वपूर्ण आय स्त्रोत था। कौटिल्य ने तीन सौ चालीस प्रकार के जुर्माने मिलाये है। लावारिस वस्तु जैसे राज्य की हो जाती थी। ''अन्यजात (किसी अन्य स्त्रोत से हुई आय) अपुलक (पुत्रहीन पुरूष का धन), अटवामिक (मोर्या अथवा भली हुई सम्पत्ति) तथा 'निधि' (धरती में गाड़ा हुआ धन) सभी अन्य आय के स्त्रोत के रूप आते है। जो सामान्यतःह राजा की होती थी।

आपातकालीन करारोपण

आपातकालीन स्थितिका सामना करने के अतिरिक्त कर लगाना न्याय संगीत माना जाता था। महास्थान और सोहगौरा ताम्रपत्र अभिलेखो में उल्लेखित 'अतगाविका' शब्द राज्य की आपातकालीन स्थिति का सूचक है, जिसके परिणामस्वरूप अनाज इत्यादि की कुछ अतिरिक्त उगाही करके राजकीय भण्डारों में भरा जाता था, जिसको आपातकालीन में प्रजा में वितरित किया जाता था। ऐसी आपातकालीन कर को 'प्रणय' के नाम से जाना जाता था।

12.4 अन्य कर

भट्टस्वामी ने 'पिण्डकार' का अर्थ सौर गांव पर सामूहिक रूप से लगाया गया कर के रूप में माना है। इस प्रकार का उल्लेख मौर्य और गुप्तकाल के बाद नही मिलता है। मौर्य और गुप्तकाल के बाद गाँवों में कर निर्धारण सामूहिक रूप से न होकर अलग–अलग होता था। 'बलि' भी एक प्रकार का कर था जो प्रजाओं एवं पराजित राजाओं से वसूला जाता था। 'हिरण्य' एक अनियत कर था जो राजस्व का अंग होने पर भी कौटिल्य के 'आयमुख' अथवा 'आय शरीर' के अंग के रूप में गिनाया नही गया है। उदकभाग एक सिचाई शुल्क था। उपरिकर दूसरे के जमीन में दोती करने वाले कृषकों से वसूला जाता था। तथा उद्रंग के साथ यह अभिलिखित होता था। उपरिकर एक अतिरिक्त उपकर है और उद्रंग स्थायी देय कर है। हालिककर (हल पर लगाया गया कर) दिव्य (विशिष्ट को छोड़ सभी कर जो दिया जाने वाला हो), तुल्यमेय एवं 'धन्य' का अर्थ स्पष्ट नही है। 'पिण्डकार' और उदकभाग मौर्योन्तर अभिलेखों में नही आये है, जबकि उपरिकर उद्रंग और हालिककर प्रथा बार गुप्तकालीन अभिलेखो में मिलते है।

करारोपण से छूट

तत्कालीन समय में श्रोत्रियों (वेदज्ञ ब्राह्मणों), मीमांसको और तार्किको को करों से मुक्ति थी। यह छूट सभी व्यक्तियों को नही मिलती थी। आचारहीन ब्राह्म्यों पर बल्कि और विष्टि जैसे कर लगाने का प्रावधान था। राजा द्वारा जारी किये गये दान के आदेशों में करारोपण से मुक्ति का उपलब्ध रहता था। कुवच और अस्त्र बनाने वाले, जहाज बनाने वाले शिल्पी इत्यादि करो के भुगतान से मुक्त तो रहते ही थे साथ ही साथ राजकोष से भरण–पोषण भी पाते थे। दानग्राहियाँ को राजस्वसे छूट दी जाती थी। किसी भी व्यक्ति को कर से मुक्त करने का परम अधिकार होता था। महिलाएँ गुरू के आश्रम में गहने वाले ब्रहमचारी, शुद्र अधे बहरे गूँगें और रोगी पुरूष भी करो से मुक्त थे। वे वस्तुएँ जो विवाह, दहेज, अथवा जौतुक, राजा के लिए उपहार, यज्ञादि अनुष्ठान प्रसव, यज्ञोपवीत, शिल्प से अर्जित धन भिक्षा से एकत्र धन एवं एक कर्षापण से कम कीमत की वस्तुओं इत्यादि पर शुल्क नही लगता था। महुए, लकड़हारे, माली, पशुपालक, राजदूत, बीजावाहक,

सन्यासी, बाल वृद्ध, रोगी, गर्भवती तीर्थयात्री घटवाही (तरण शुण्क) से मुक्त थे। विदेशी वस्तुओं का कारोबार करने वाले वाणिक और नाविक छूट का अनुग्रह पाते थे और ऐसी छूट में ब्याजि बिक्री कर से मुक्ति भी शामिल रहता थी ऐसे वणिकों को शुल्क तरपण्य एवं गुल्म जैसे व्यापार करो की भी छूट रहती थी।

राजकीय व्यय

प्राचीन भारत में राजकीय व्यय के कुछ दिशा नियामक सिद्धान्त थे। प्रजा का कल्याण राज्य का प्रथम कर्तव्य होता था तथा खर्च की विशाल राशि कल्याणकारी कार्यो में लगायी जाती थी। मनु के अनुसार राजा को प्रजा के कल्याणपूर्वक होना चाहिए। उशीनर ने कहा है कि मेरी सम्पत्ति मेरी प्रजा के लिए है। राजकीय व्यय व्यापक लोकहित में किया जाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार राजा कुल राजस्व के चतुर्याश से ही अपने विभिन्न अधिकारियों द्वारा कार्य सम्पादन करना चाहिए। राजाओं को सलाह दी गई है कि राजकीय कार्य में खर्च कम से कम किया जाय। राजकीय व्यय की सार्थकता इस कटौती पर ऑकी जानी चाहिए। कि उससे समाज का कितना कल्याण हुआ तथा राजा के हाथ कितने अग्थ स्त्रोत आये। राजस्व का संग्रह प्रत्येक स्त्रोत से किया जाता था इसलिए राज्य उचित ही उसकी अधिक से अधिक राशि कल्याण कार्यो पर खर्च करता था। सन् 106 ई0 के हुविष्क के मथुरा प्रस्तर लेख में कहा गया है कि भूखों प्यासों और अनाथ लोगों का भरण पोषण राज्य की और से किया जाता था। द्वितीय–तृतीय शताब्दी ईसवी के नागार्जुन कोण्डा लेख में दुर्गतों, दरिद्रो और अनायों को अस्त दान दिये जाने का उल्लेख मिलता है। अशोक ने अपने द्वितीय शिकालेष में मनुष्य और पशु दोनों के लिए चिकित्सा का प्रबंध किया था। सड़को का निर्माण, उद्यान, कुआ, निर्माण तालाब का निर्माण नहर का निर्माण वृक्षारोपण इत्यादि राज्य का मुख्य कर्तव्य था। सिचाई भी राज्य की एक प्रमुख जिम्मेदारी थी। सिचाई हेतु नहर व झील के निर्माण की चर्चा के हायीगुन्फा अभिलेख और रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में व्यापक रूप से हुई है।

12.5 राजस्व व्यवस्था

कौटिल्य ने दक्षता, ईमानदारी और समयनिष्ठता पर बल देते हुए एक–न्याय नीति के जरिये राजस्व प्रशासन की व्यवस्था का प्रतिपादन किया। मोर्या के काल में देश के राजस्व प्रशासन में एक नये युग की शुरूआत हुई। कौटिल्य ने लेखा तैयार करने, देश करने उसकी जाँच करने के नियम बड़े ही विस्तार से प्रस्तुत किये है। आय के तीन वर्ग किये गये है।

(क) चालू (ख) पूर्व शेष (ग) आकस्मिक

आय को बढ़ाते और व्यय को घटाते हुए राजस्व की वसूली एक

महासमाहर्ता द्वारा करायी जाती थी। राजस्व विभाग में अनेको अध्यक्ष थे। यूनानी लेखकों ने निम्नलिखित राजस्व अधिकारियों उल्लेख किया है।

1. परिषद् (काउन्सलर) अभिनिर्धारक (सलंसर), विचारक (डेरिबरेटर) या परामर्शदान्ता (सचिव या अमाल्य)
2. कोषकाल (ट्रेजरर) और कोषाध्यक्ष (कोषागार अधीक्षक)
3. ऐग्रोनोमोई (जिला अधिकारी)
4. ऐस्त्योनोगाई (नगर अधिकारी)
5. नौ सेना अध्यक्ष
6. निरीक्षक और अधिदर्शक

परिषदो एवं अभिविर्धारको को गवर्नर सहित राज्य के सभी ऊँचे अधिकारियों के बराबर व्यापक शक्ति रहती थी। राज्य के कोषपालों तथा कोषागार अधीक्षकों(कोषाध्यक्षों) में कौटिल्य द्वारा उल्लेखित 'सन्निधाता' (सम्रांट के खजाने का प्रधान) नाम से एक प्रसिद्ध अधिकारी होता था। एग्रोनोामोई तथा एस्लोनामोई तथा सैनिक कार्यो के अन्य प्रभारियों हेतु एक सामान्य पद नाम दण्डधिकारी थे जिनकी तुलना कौटिल्य के कुछ अध्यक्षों (अधीक्षको) से की जा सकती है। ऐसे विभागीय प्रधानो की मदद के लिए लेखपाल 'सौढयामक' किरानी (लेखक) सिक्का परीक्षक, 'रूपदर्शक' और कोषपाल 'नीविग्राहक' रहते थे।

सम्राट अशोक ने सुसंघटित राजस्व–प्रशासन की पद्धति चलाई और 'अन्तमहामात्रों', 'प्रादेशिकों' और 'युतो' को नियुक्त किया जो राजस्व एवं मौद्रिक प्रशासन से सम्बद्ध थे।

1. **अन्तमहायात्रा**–सीमान्तो के अधिकारी। कौतिल्य ने इन्हें अन्नपाल कहा है।
2. **प्रादेशिक**–ग्रामीण क्षेत्रों से बलि वसूल करते थे गोपों एवं स्थानिकों के काम का निरीक्षण करते थे तथा अध्यक्षों पर नियंत्रण रखते थे। वे हर पांच सालों पर दौरा करते थे।
3. **युत**–कौटिल्य के 'युक्त' है। यह कृषकों के मध्य से चुने जाते थे तथा 'बलि' नामक कर को वसूल करते थे।

यह सभी अधिकारी राज्य की निधि और राजा की सम्पत्ति से सम्बद्ध थे और खोयी हुई सम्पत्ति के प्रभारी भी होते थे इन्हें जिला कोषाधिकारी भी कहा गया है जो राजा की सम्पत्ति का प्रबंध करते थे, राजस्व प्राप्त करते थे तथा उसका लेखा–जोखा भी रखते थे।

कौटिल्य ने राजस्व प्रशासन से सम्बद्ध निम्नलिखित अधिकारियों की सूची

दी हैं –

1. **गोप**–यह ग्राम प्रमुख से ऊपर होते थे। पांच से दस ग्राम इनके अधिकार में होते थे। यह ग्राम लेखाकार के रूप में काम करते थे। इनके कर्तव्य इस प्रकार थे –

   (क) हर प्रकार के दान, धर्मस्व (खैरात), बिक्री और छूट का पंजीयन करना।

   (ख) सीमा चिन्ह बैठाना।

   (ग) अपने क्षेत्र के सभी परिवारों के आय–व्यय का सविस्तार लेखा–जोखा रखना।

   (घ) निवास ग्रहों की पगिणनात्मक सूची रखना।

   (ड.) उक्त सूची में यह निर्देश करना कि कौन–कौन परिवार कर योग्य है। और कौन–कौन कर मुक्त। साथ ही यह भी बताना कि ऐसे हर कर योग्य परिवार से बलि, बेगारी, शुल्क, दण्ड, आदि किन–किन मदों में कितना–कितना कर लेना है।

2. **स्थानिक–य**ह जिलास्तर के अधिकारी होते थे और आठ सौ गावों का लेखा–जोखा रखते थे।

3. **अध्यक्ष**–उनमें कई अध्यक्ष होते थे जैसे–शुल्काध्यक्ष, कोष्णागाराध्यक्ष, अक्षपतलाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष शुल्क (चुंगी) की देखभाल करने वाले होते थे। यह शुल्कशाला में आयात–निर्यात के माल पर चूंगी वसूलते थे। कोष्णागाराध्यक्ष भण्डारग्रह का प्रभारी होता था। यह अनाजों की बिक्री, खरीद और विनिमय करना तथा ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले नकदीं एवं वस्तु करों की देखभाल करना। अक्षापटलाध्यक्ष महालेखाकार होता था तथा वह मुद्रा एवं लेखा दोनों का प्रभारी होता था। वह राज्य के विभिन्न विभागों द्वारा प्रस्तुत राजस्व का व्यौरेवार लेखा करता था।

4. **समाहर्ता**–यह वित्त विभाग का प्रधान होता था। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि समाहर्ता चुने हुए ग्रामों में निरीक्षक को भेजेगा जहाँ पह इस बात की जांच करके रिपोर्ट देगी कि किन–किन परिवारों पर कितना–कितना कर किन–किन मदों में लगाया गया है और कौन–कौन सी छूटें प्रदान की गई हैं। इसके कार्यों में प्रमुख रूप से विभिन्न स्रोतों से राजस्व की वसूली करना, आय, व्यय तथा राजभवन के पूरे लेखा–जोखा की देखभाल करना, राज्य की आय प्राप्त करने और उसे बढ़ोन का रास्ता ढूढ़ना इत्यादि।

मौर्योत्तर काल में निम्नलिखित राजस्व अधिकारियों का नाम मिलता है।

1. **गौल्मिक**–गुप्त का प्रभारी, गुल्म चुंगी वसूलने वाले सिपाहियों की चौकी को कहा जाता है।
2. **विशंतीस**– बीस ग्रामों का मालिक
3. **शतेश अथवा शताध्यक्ष**–सौ ग्रामों का मालिक। ये अपने अपने इलाकों में होने वाली आय–व्यय का पर्यवेक्षण करते थे। इसके अतिरिक्त राजस्व प्रशासन से सम्बद्ध और भी अधिकारी थे, जैसे राजकम्मिक, बलिसाधक, आकाशीय, तुन्दीय एवं अग्धकारक इत्यादि।

12.6 सारांश

यह देखना राज्य की नीति था कि आय के विविध स्रोतों का कुशल प्रबंध और पर्यवेक्षण ऐसे अधिकारियों से कराया जाय जो परितुष्ट, विश्वासपात्र, ईमानदार तथा आय बढ़ोने की युक्तियाँ जानते हों। विभाग के जिलास्तरीय अधिकारियों के लिए दण्ड विधान निर्धारित था। राज्य के अधिकारियों के पूरी निगरानी के बावजूद, कई तरह के दृर्वृत करते थे और राज्य के धन को हड़पते थे। राजस्य विभाग ठोस तौर से संघटित था। आषाढ़ माह के अंत में वार्षिक लेखा पेश किया जाता था। राजस्व की हर मद की आय और व्यय की पूरी तरह जाँच की जाती थी। पूर्व मध्यकाल में सम्भवतः भू–राजस्व वसूलने की जिम्मेदारी ग्राम के मुखिया के ऊपर होती थी। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि ग्राम पति विभिन्न परिवारों के मुखिया से राजस्व संग्रहित कर विषयपति को अर्पित करता था। विषयपति, सर्वाध्यक्ष को देता था और सर्वाध्यक्ष राजा को सौंप देता था। दुर्बल राजाओं के शासनकाल के मुछ ग्राम प्रधान राजस्व वसूल कर स्वयं रख लेते थे और सामन्त जैसा व्यवहार करते थे।

12.7 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत में कर प्रणाली के महत्व पर प्रकाश डाालिए।
2. प्राचीन भारत में कर के विभिन्न स्रोतों का वर्णन कीजिए।
3. प्राचीन भारत में राजस्व व्यवस्था के महत्व का वर्णन कीजिए।

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गोयल, श्री राम, 1982, प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड–1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर,

2- चौधरी, राधाकृष्ण, 1979, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, जानकी प्रकाशन, पटना, नई दिल्ली,

इकाई 13 वार्ता–परिभाषा एवं महत्व

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 वार्ता–परिभाषा

13.2.1 ज्ञान की शाखाएँ और वार्ता

13.2.2 प्राचीनता

13.3 वार्ता का महत्व

13.3.1 वार्ता का विषय क्षेत्र

13.3.2 वार्ता और अर्थशास्त्र

13.3.3 वार्ता के अधिकारी शिष्य और गुरू

13.4 सारांश

13.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.6 संदर्भ ग्रन्थ

13.0 प्रस्तावना

मानव इतिहास की शुरुआत से ही मनुष्य ने अपने निर्वाह के तरीके तैयार किए हैं। पाषाण युग या प्रागैतिहासिक मनुष्य एक शिकारी समूह था और भोजन और आश्रय की तलाश में समूहों में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाता था। पाषाण युग का अंतिम चरण जिसे नवपाषाण युग या नए पाषाण युग के रूप में भी जाना जाता है, मानव जाति के इतिहास में दो अभूतपूर्व विकास हुए–मनुष्य ने कृषि करना शुरू किया और मवेशी, भेड़, बकरी आदि जैसे जानवरों को पालतू बनाना शुरू किया। फसलों की खेती मनुष्य को एक स्थान पर बसने के लिए प्रेरित किया और इससे छोटी–छोटी बस्तियाँ उत्पन्न हुईं, जो समय के साथ गाँवों या जनपदों में बदल गईं और इनमें से कुछ ग्रामीण बस्तियाँ विस्तारित होकर शहर या नगर और निगम या बाजार शहर बन गईं। जैसे–जैसे कृषि उन्नत हुई, इसने अधिशेष अनाज को जन्म दिया जिससे व्यापार और वाणिज्य का उदय हुआ। इस प्रकार कृषि, पशुपालन और व्यापार तीन मौलिक व्यवसाय हैं जिन्होंने अधिकांश प्राचीन और मध्ययुगीन पूर्व–औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं का समर्थन किया। प्राचीन भारत भी इसका अपवाद नहीं था और वास्तव में, प्राचीन भारत के दार्शनिकों और

बुद्धिजीवियों ने इन तीनों को बहुत महत्व दिया था और उन्होंने मिलकर एक ऐसी चीज बनाई जिसे '**वार्ता**' के नाम से जाना जाने लगा। वार्ता शब्द वृत्ति शब्द से लिया गया है और इसका तात्पर्य आजीविका और जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक ज्ञान की शाखा से है। सिंधु–सरस्वती सभ्यता के बाद से भारत में वार्ता का अभ्यास किया गया है और वैदिक ग्रंथों में कृषि और पशुपालन के साथ–साथ व्यापार के भी प्रचुर संदर्भ हैं। मौर्य युग (चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) की शुरुआत तक वार्ता को ज्ञान की एक शाखा के रूप में मान्यता दी गई थी और अधिकांश भारतीय ग्रंथ वार्ता को एक राजा की सबसे महत्वपूर्ण जिम्मेदारियों में से एक मानते हैं और उसके लिए अपनी प्रजा को समान प्रदान करना अनिवार्य बनाते हैं। वर्तता को अर्थ के पुरुषार्थ के साथ जोड़ा जाने लगा और मनु स्मृति वास्तव में कहती है कि धर्म, अर्थ और काम के तीनों पुरुषार्थ मानव अस्तित्व के लिए अच्छा करते हैं (मनुष्य स्मृ 2.224)। वर्तमान लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र से शुरू होने वाले चुनिंदा ग्रंथों के अध्ययन के माध्यम से प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था की मूल अवधारणा के रूप में वार्ता के विकास का अवलोकन करता है।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको प्राचीन भारत में वार्ता का अर्थएवं वार्ता के महत्व से संबंधित जानकारी प्रदान करना है।

13.2 वार्ता परिभाषा

वार्ता संस्कृत के 'वृत्त' धातु में 'णः' प्रत्यय लगाकर बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है वृत्ति (= जीवन वृत्ति) या जीवन यापन की विद्या। पहले इसका प्रयोग वैश्यों के जीवन–यापन के कर्मों के लिए निर्धारित किया गया था। वैश्य शब्द की उत्पत्ति 'विशः' धातु से हुई है जिसका अर्थ है सामान्य जन। चूँकि याज्ञिक और युद्ध वर्गों को छोड़ आर्य परिवार का एक बड़ा भाग या सामान्य जनता वैश्य थी जो भौतिक आवश्यकता के लिए सम्पत्ति का उत्पादन करती थी इसीसे इसे विशः कहा गया है। इस प्रकार वार्ता का प्रयोग संस्कृत साहित्य में दो दृष्टिकोणों से किया गया है। प्रारंभिक रूप में इसका अभिप्राय उन व्यवसायों से संबंधित है जो वैश्यों के लिए निर्धारित थे। दूसरे इससे अभिप्राय उन विषयों के अध्ययन से है जो जीवन यापन संबंधी वृत्तियों से संबंधित है। कौटिल्य ने जहाँ त्रयी को 'धर्माधर्मी' तथा दण्डनीतिको 'नयानयौ' की विद्या कहा है वार्ता को 'अर्थनथौं' की विद्या कहा है। इसमें अथानर्थों से अभिप्राय संपत्ति के हानि–लाभ संबंधी ज्ञान से है। शुक्रनीति में भी कहा गया है कि मनुष्य के हानि लाभ के ज्ञान की विद्या वार्ता है।

वार्ता से अभिप्राय प्रायः शास्त्रकारों ने प्रारंभिक अवस्था में कृषि, गोरक्ष और वाणिज्य बताया हैकृ कृषि गोरक्षवाणिज्य वैश्यकर्मस्वभावजम्। यही बात कौटिल्य के अर्थशास्त्र विष्णुपुराण आदि में भी कही गयी है। इसका वादू में विस्तार हुआ। पर

जो भी हुआ वह इसी दृष्टिसे कि मूल रूप से उसका प्रयोग 'धन' रहा । इसीसे डॉ० बनर्जी ने कहा है–Vartta was the branch of learning that had wealth for its subject of story.

13.2.1 ज्ञान की शाखाएँ और वार्ता

प्राचीन भारतीय साहित्य में ज्ञान की शाखाओं का व्यापक उल्लेख हुआ है। न केवल संस्कृति के ग्रन्थों रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्रों, पुराणों, नीति ग्रन्थों, राज्यशास्त्रों में ही विद्याओं का उल्लेख हुआ है अपितु पालि और प्राकृत में रचित बौद्ध और जैन ग्रंथों से भी ज्ञान की अनेक शाखाओं का परिचय प्राप्त होता है। शुक्रनीति में ज्ञान की शाखाओं की एक लम्बी तालिका उपलब्ध है। इसीसे लेखकों का दृष्टिकोण है कि विद्याएँ और कलाएँ अनन्त हैं। विद्या वह है जिसको बोलकर बताया जाय और कला वह है जिसे किया जाय, यहाँ तक की गूंगे भी इसे कर सकते हैं। विद्याओं में वेद, उपनिषद्, तंत्र, षडांग, दर्शन, इतिहास, स्मृतियाँ, पुराण, साहित्य, अलंकार, देशज भाषा, शिल्पशास्त्र आदि का उल्लेख हुआ है। पातंजलि ने ज्ञान के विभिन्न प्रकारों को विद्या या लक्षण शब्द से संबंधित किया है। ज्ञान की शाखाओं में उपरोक्त के अतिरिक्त अश्व की विद्या, सर्प विद्या, नक्षत्र विद्या, मेघ विद्या एवं ब्रह्म विद्या का भी यहाँ उल्लेख हुआ है जो विद्या की विविधता का बोधक है। जातकों में भी तीन वेद और अट्ठारह विद्याओं की चर्चा है जबकि जैन कल्पसूत्र से इनकी लम्बी तालिका प्राप्त होती है। इनका उद्देश्य है मानव के सुख के लिए उसे अध्ययन की सुविधा प्रदान करना।

जैसे आज ज्ञान की शाखाओं को कला, सामाजिक विषय, विज्ञान, साहित्य, वाणिज्य आदि विभिन्न वर्गों में विभक्त किया गया है उसी प्रकार प्राचीन काल में भी भारतीय मनीषियों ने ज्ञान की अनन्त शाखाओं का वर्गीकरण किया था। प्रायः चार प्रकार के विद्याओं का उल्लेख मिलता है। यों तो अलग–अलग विचारकों ने इसका वर्गीकरण अपने–अपने अनुसार किया है। किसी ने चौदह, अट्ठारह, बत्तिस और इससे भी अधिक वर्गों का संकेत दिया है। पर प्रायः शास्त्रकारों ने सभी ज्ञान की शाखाओं को मिलाकर सामान्यतया चार वर्गों का ही उल्लेख किया है। ये चार हैं–1. आनवीक्षिकी, 2 त्रवी, 3. वार्ता और 4. दण्डनीति के अन्तर्गत सम्पूर्णज्ञान की शाखाओं को रखा गया है। जैकोबी के अनुसार आनवीक्षिकी = दर्शन, त्रयी = तीन वेद, वार्ता =उद्योग विज्ञान तथा दण्ड नीति = शासन तंत्र हैं। किन्तु जो ज्ञान या विद्या का क्रम उपर दिया गया है उसे ही अन्य शास्त्रकारों ने सामान्यतया स्वीकार किया है। पर कुछ ग्रंथों में इस क्रम में अन्तर दिखता है। महाभारत में आनवीक्षिकी को चौथा स्थान दिया है तथा चतुर्थी विद्या कहा है। वात्सयायन ने भी कामसूत्र में इसे चौथी विद्या माना है– **'यासाम् चतुर्थी इयमानवीक्षिकी न्याय विद्या'**। इनका महत्त्व बदलते रहने के कारण संभवतः इनके क्रम में अन्तर दीखता है।

रामायण में एक स्थल पर इनकी संख्याएँ चार बताई गई हैं दूसरे स्थल पर तीन। मनुस्मृति में भी तीन ही विद्याओं का उल्लेख है। वहाँ आनवीक्षिकी को अलग विद्या न मानकर उसे त्रयी का ही अंग बताया गया है। इस प्रकार विद्याओं का वर्गीकरण चार की अपेक्षा कम किया जाने लगा था। तभी बृहस्पति ने केवल दो विद्याओं की मान्यता दी है। सम्पूर्ण ज्ञान को उन्होंने दो श्रेणियों में विभक्त किया है। वार्ता और दण्डनीति। त्रयी को मात्र मानव की सांसारिकता के लिए इनका विस्तार बताया है। उपनस ने तो केवल एक ही विद्या का नाम लिया है–दण्डनीति। इनका एक ही विद्या मानने का अभिप्राय यह नहीं है कि उन्होंने अन्य विद्याओं के महत्त्व को नकारा है बल्कि सभी को दण्डनीति में समाहित माना है। इससे स्पष्ट है कि इस एक या ऊपर के दो या तीन वर्गों का नाम ले लेने मात्र से ही सभी अन्य वर्गों तथा उसके अन्तर्गत आने वाली अन्य विद्याओं का बोध होता था।

पर यहाँ द्रष्टव्य है कि वार्ता का उल्लेख उपनस को छोड़कर सभी ने किया है। उपनस द्वारा इस का उल्लेख अलग न करना इसके या अन्य विद्याओं के अस्तित्व को नकारना नहीं है बल्कि उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानना मात्र है। यह बात कामन्दक के ज्ञानरूपी वृक्ष के विवरण से स्पष्ट होता है। उन्होंने कहा है कि 'मूल वृक्ष राजशास्त्र है जिसकी चार जड़े, चार विद्याएँ मानी गई हैं। वही राजशास्त्र का सफल ज्ञाता है जो इस वृक्ष की आठ शाखाओं, चार जड़ों, साठ पत्तों, दो कोपलों, छः फूलों और तीन फलों को जानता है। यहाँ वृक्ष के विभिन्न अंग प्रतीक रूप से विद्याएँ हैं जिनका ज्ञान प्रत्येक शासक या व्यवस्था से जुड़े व्यक्ति के लिए आवश्यक माना जाता था। कौटिल्य ने राज्य के सप्ताङ्गों में कोष को विशेष स्थान दिया है जिसके बिना राज्य चल ही नहीं सकता। अतः वार्ता की महत्ता इस वर्णन का मूल आधार है।

13.2.2 प्राचीनता

आदि काल में सतयुग था। वहाँ पुष्कर द्वीप में सभी लोग समान थे। तब कोई भी सामाजिक या व्यक्तिगत विभेद नहीं था। व्यवसायगत वर्गीकरण भी तय नहीं किया गया था। अतः ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की आवश्यकता न होने से इनका कोई अस्तित्व नहीं था। यही बात वायु और ब्राह्माण्ड पुराण से भी ज्ञात होती है। मत्स्य पुराण में दो स्थलों पर भी इसी प्रकार का उल्लेख सप्त द्वीपों के संदर्भ में किया गया है। पहले प्रकरण में चार द्वीपों तथा दूसरे में तीन द्वीपों का वर्णन है। पीछे सतयुग की समाप्ति कर संभवतः इनका ज्ञान हुआ होगा। प्राचीन लेखकों के भीतर ये विद्याएँ इतनी जड़ जमा चुकी थीं किविभिन्न विषयों का वर्णन जब किसी एक ग्रंथ में करते थे तो कहते थे कि इसमें इन चारों विद्याओं से संबंधित ज्ञान संकलित हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इनकी महत्ता हेतु इन विद्याओं का संबंध

देवी–देवताओं के साथ भी जोड़ा गया। इस प्रसंग में देवी भागवत को हम उद्धृत कर सकते हैं जिसमें दुर्गा को इन चारों विद्याओं त्रयी, वार्ता आदि नामों से उनकी प्रार्थना करते हुए संबोधित किया गया है। इसी प्रकार विष्णु पुराण में लक्ष्मी की प्रार्थना में उसे त्रयी, और वार्त्ता नाम से संबोधित किया गया है। इसके पीछे यह तर्क दिया गया है कि न्नयी रूप में वह सांसारिक विपदाओं से लोगों की रक्षा करती है और वार्ता रूप में जीवधारियों का संकट काटती है। इस प्रकार प्राचीन भारत में जैसे प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति दैवी आधार से जोड़ी गई है उसी प्रकार ज्ञान के इन चारों अंगों को भी दैवी के साथ समाहित किया गया है।जैन ग्रंथों में भी इसकी उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन बताई गई है। जैन धर्म ग्रंथ कल्पसूत्र में वर्णित है कि ऋषभ नाथ ने संसार के कल्याण के लिए बहत्तर विज्ञानों, नारियों को चौसठ विद्याओं, लोगों को एक सौ कलाओं और तीन व्यवसायों की शिक्षा दिया। ये तीन व्यवसाय हैं–कृषि, गोरक्ष और वाणिज्य । यह पुष्ट प्रमाण है कि वार्ता प्रारंभिक काल में ज्ञान की एक शाखा थी। इसी प्रकार बौद्ध ग्रंथों में भी इसका ज्ञान मिलता है। पेत्तवत्यु नामक बौद्ध ग्रंथ में वर्णित है कि प्रेतों की जीविका के लिए कृषि, गोरक्ष और वाणिज्य की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसका अभिप्राय है कि सामान्य प्राणियों के लिए ये व्यवसाय आवश्यक थे।

इस प्रकार सतयुग के बाद वार्ता की अवधारणा लोगों के मन में बैठ गई थी और इसका ज्ञान वैदिक काल से लोगों को था तभी ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णों की उत्पत्ति, गुण–कर्म के आधार पर होने से बाद में विकसित होने वाले वर्ण धर्म के विवेचन में इसे वैश्यों का कर्म मानकर मूलतः जोड़ा गया। इस प्रकार वार्ता विद्या का रूप तब ग्रहण किया जब प्रत्येक वर्णों के लिए अलग–अलग जीवन वृत्तियों का निर्धारण हुआ।

13.3 वार्ता का महत्व

वार्ता प्राचीन भारतीय शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। वेद की जितनी महत्ता स्वीकार की गई है उतनी ही महत्ता वार्ता को भी दी गई है। यह समाज के लोगों के लिए एक अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी ज्ञान था जिसके आधार पर उनकी जीविका नियन्त्रित होती थी। बिना आर्थिक क्रियाओं और उससे अर्जित लाभ के द्वारा मानव का जीवन सुखी नहीं रह सकता और न वह व्यवस्थित समाज एवं राज्य वयवस्था को ही बना सकता है। जहाँ अर्थाभाव हो, हानि ही हानि हो वहाँ अव्यवस्था और अराजकता का होना स्वाभाविक है। वह समाज जंगल समाज हो जायगा और वहाँ से विकास कोसों दूर हो जायगा। इसी महत्ता के कारण इसे विविध नामों से संबोधित किया गया है– अर्थवेद, अर्थविद्या, अर्थशास्त्र आदि। इसको भी वेद की ही कोटि में रखने के लिए इसके विषय को उपवेद कहा गया, कभी ऋग्वेद का किन्तु सामान्यतया अथर्वेद का।

यह अर्थशास्त्र और राज्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय था। राज्य के सप्तांगों में कोश की महत्ता अत्यधिक स्वीकार की गई है। कोश के अभाव में शासन नहीं चल सकता। सम्पत्ति के लाभ के आधार पर ही कोश बढ़ाकर राज्य को सुदृढ़ किया जा सकता है। अर्थशास्त्र (Economics) में हम मानव की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करते हैं जिसके द्वारा समाज नैतिक दृष्टि से लाभ अर्जित करता हुआ अपना विकास कर सके। इसलिए वार्ता की महत्ता राज्य और समाज दोनों के लिए स्वीकार की गई है। इसमें इन दोनों विषयों की आधार सामग्रियाँ समाहित हैं।

वार्ता राजकुमारों के अध्ययन का प्रधान विषय था। राजा का कार्य था भूमि की रक्षा करना। यह तभी संभव था जब राजा आर्थिक रूप से राज्य को समृद्ध करे। इसके लिए सम्पत्ति से लाभ अर्जित कर्ना आवश्यक था। अतः राजकुमारों के लिए इसके ज्ञान की नितान्त आवश्यकता महसूस की गई थी। कौटिल्य ने इस विषय में कहा है कि 'वार्ता' (अर्थशास्त्र) का अध्ययन राजकुमारों के लिए अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि अन्न, पशु, खनिज, वन–सम्पदा और स्वतन्त्र श्रम संबंधी ज्ञान प्रदान करती है। इससे कोश और सेना को व्यवस्थित रखा जा सकता है तथा शासक इसके द्वारा अपने को और शत्रु पक्ष को नियंत्रित रख सकता है।ज्ञान की चारों शाखाएँ आनवीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति–समान महत्त्व की मानी गई हैं क्योंकि सम्पूर्ण मानव, समाज एवं राज्य के विकास में इन सबकी बराबर की सहभागिता है। फिर भी अनेक दृष्टियों से आर्थिक अध्ययन का विषय उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था जितना वेद। इसीसे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में वार्त्ता की विशिष्टता का उल्लेख है। महाभारत में अनेक अंशों में इसकी महत्ता का वर्णन किया गया है। एक स्थल पर कहा गया है कि वह व्यक्ति मूर्ख है जो तीनों वेदों, वार्ता और अपने लड़कों को छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है। दूसरे स्थल पर कहा गया है कि संसार की जड़ वार्ता है। इसका नियंत्रण वेद द्वारा होता है और यही राजा को समुचित रीति से सुरक्षित रखता है। सभवतः इसीलिए त्रयी को कौटिल्य ने 'धर्माधर्मो' की विद्या कहता है जो उचित और अनुचित का ज्ञान देता है तथा वार्ता को 'अथानर्थी' की जिसमें धन कमाने तथा हानि उठाने की स्थिति और व्यवस्था का ज्ञान है। पर धन कमाने के लिए धर्म की रीति की मान्यता के कारण इसके नियंत्रण के लिए महाभारत ने वेदों को सौंपा है। तीसरे स्थल पर कहता है कि यह संसार क्रियाशील है जिसमें वार्ता की महत्ता अत्यधिक है।' इन विवरणों के आधार पर लगता है कि मनुष्य अपने नैतिक उत्थान के लिए जितना वेदों पर आधारित है उतना ही भौतिक उत्थान के लिए वार्ता पर।

इसकी चरमता महाभारत के इस कथन में है कि इन विद्याओं–चारों विद्याओं से प्राप्त ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य संसार में व्यवस्थित न्याय पथ पर रह सकता है। पर जिस प्रकार त्रयी के अभाव में नैतिकता का लोप हो जायगा, दण्डनीति के अभाव में अराजकता फैल जायगी उसी प्रकार वार्ता के अभाव में मनुष्य का अस्तित्व

ही इस धरती से समाप्त हो जायगा।

13.3.1 वार्ता का विषय क्षेत्र

वार्ता को मूलतः वैश्यों का विषय बताया गया है। पर धीरे–धीरे इसकी सीमा का विस्तार होता गया। क्योंकि धर्मशास्त्रों में यह छूट दी गई कि जब वैश्यों का अपने व्यवसाय से कार्य न चले तो वह शूद्रों का व्यवसाय ग्रहण कर सकता है। यह धीरे–धीरे बढ़ते हुए इस रूप में आया कि सम्पति संबंधी सभी विषय इसके सीमा में समाहित हो गए। अतः प्रारंभिक स्तर पर वैश्यों का मूल धर्म बताया गया है कृषि, गोरक्ष और वाणिज्य। इनमें पशुपालन के संबंध में कहा गया है कि वैश्यों को पुत्र की तरह पशुओंका पालन करना चाहिए। इस प्रकार वार्ता के ये तीन अध्ययन विषय थे। कामन्दक के अनुसार जो लोग इन व्यवसायों का पालन करते थे उनके व्यवसाय को वार्ता कहा जाता था। जो इनमें निष्णात होते थे उन्हें अपनी जीविका के लिए चिन्ता नहीं करनी होती थी। रामायण में वार्ता के विषय मे राम ने भरत से जंगल में मिलने पर राज्य के लोगों के संबंध में पूछते हुए जानना चाहा था कि कृ षक और पशुपालक जो वार्ता में संलगन हैं क्या संसार में समुन्नत हो रहे हैं।

पीछे चलकर भागवत पुराण में वार्ता को चतुर्विद्या कहा गया है। तीन विद्याओं की चर्चा तो ऊपरकी गई है और चौथी विद्या कुसीद को यहाँ जोड़ा गया है। कुसीद का अर्थ है सूद पर रुपया उधार देना। इस प्रकार अब वार्ता के अध्ययन के चार घटक हो गए–कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य और कुसीद। मारकण्डे पुराण में भी वार्ता को 'कृष्टोयादिचतुष्टयरुपा' कहा गया है और चार वृत्तियों में कृषिवाणिज्य गोरक्षाकुसीदग' की गणना की गई है। पर अभी तक मौलिक रूप में कला–कौशल संबंधित क्रियाएँ वार्ता का अंग नहीं बनी थी। इसका कारण था कि वार्ता वैश्यों का विषय था और कलाकौशल शूद्रों का।

पर मनु ने आपद धर्म के विषय में विचार करते हुए कहा है संकट के समय वैश्य शूद्रों का व्यवसाय ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार महाभारत में कहा गया है कि यदि शूद्रों को अपने निर्दिष्ट कर्म से काम न चले तो वैश्यों की वृत्ति विशेष रूप से कारीगरी को अपना सकता है। यहाँ रेखांकित किया जा सकता है कारीगरी करने को जो शूद्रों और वैश्यों की अब सामान्य वृत्ति बन चुकी थी। इसका कारण, जैसा सूत्र ग्रंथों से ज्ञात होता है, था कि कुछ वैश्यों ने क्षत्रियों की वृत्ति अपना लिया था और अधिकांश ने शूद्रों की। इसके पीछे कारण था कि जब परशुराम ने पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया था तो शुद्रों और ब्राह्मणों के बीच समता होने लगी थी। धर्मशास्त्रों के समय जब जातिगत और व्यवसायगत बंधन ढीले पड़ने लगे थे तभी याज्ञवल्क ने कहा है कि शुद्र व्यापार तथा कृषि भी कर सकता है। इस समय शूद्रों और वैश्यों में विशेष अन्तर न रहने के कारण ही दोनों में अन्तरभोज होने लगा था तथा वैश्यों का अलग व्यवस्थित वितरण लगभग अप्राप्य हो गया। अतः

कला–कौशल भी अब वार्ता का विषय बना। इसीसे पहले जहाँ कुछ पुराणों में दोनों वार्ता और कला–कौशल के बीच विभेदक रेखा खींच कर वार्ता के अन्तर्गत आने वाले विषयों को 'वार्तोपाय' कहा गया है वही कला–कौशल के लिए 'कर्मणा हस्त–सिद्धि' का प्रयोग हुआ है, जिसमें शारीरिक श्रम और विशेष कला में निपुणता का ज्ञान होता है। अतः ये दोनों दो वर्णो वैश्यों और शूद्रों के क्रमशः अलग–अलग कार्य थे। इसीसे कौटिल्य ने भले ही वार्ता को शूद्रों का ही व्यवसाय माना है पर साथ ही शूद्रों के अपने निर्धारित क्रिया–कलाप करने का उल्लेख भी किया है। अतः स्पष्ट है कि पहले 'कारूकर्म'–कला–कौशल–वार्ता का विषय नहीं थे। किन्तु महाभारत में युद्धिष्ठिर द्वारा अर्जुन से, जो अर्थशास्त्र विषारद था, पुरुषार्थों की महत्ता के विषय में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में 'अर्थ' को ही जीवन का आवश्यक पुरुषार्थ बताया गया था। इसकी व्याख्या में उसने कहा कि संसार क्रिया भूमि है जहाँ कृषि, व्यापार और पशुपालन के साथ कला–कौशल किया जाता है। अतः अब कलाओं को भी वार्ता का विषय बनाया गया। इस प्रकार वार्ता या सम्पत्ति संबंधी विद्या में अबू व्यवसायों (कला–कौशल) को भी जोड़ दिया गया। इसकी पुष्टि देवी भागवत से भी होती है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

इस प्रकार अब वार्ता का क्षेत्र पाँच हो गया कृषि, वाणिज्य, गोरक्ष, कुसीद और कारुकर्म। दूसरे रूप में वार्ता में वे सभी विषय समाहित हो गए जो मानव के भौतिक रुचि और आवश्यकता के थे जिससे वे इसके द्वारा अर्थ की प्राप्ति कर अपना भौतिक विकास कर सकें। इसीलिए मनु ने ऐसे विषयों की एक लम्बी तालिका वैश्यों के संबंध में दिया है। इसमें पशुपालन का ज्ञान, धातुओं और रत्नों की परख एवं उनके मूल्य, सुगंधि, वस्त्र, भूमि प्रकार, वीज, माप–तौल, अच्छी–बुरी वस्तुओं की परख, व्यापारिक वस्तुओंके लाभ–हानि का परिचय, विभिन्न बाजारों की जानकारी पशुधन के विकास के उपाय, श्रमिकों के गुण और मजदूरी का ज्ञान। यहाँ वैश्यों से अभिप्राय है सामान्य जनता से। क्योंकि ऊपर जो वर्णन किया गया वे विषय एक व्यक्ति के लिए एक समय करना संभव नहीं था। अलग–अलग लोगों द्वारा इसका पालन होता होगा। प्रत्येक को अपने क्षेत्र में निपुणता बरतने की सलाह कृष्ण ने दिया है जब व्रज में नन्दगोप द्वारा इन्द्र के क्रोध को शान्त करने के लिए दिए जाते पशु बलि का विरोध किया।

13.3.2 वार्ता और अर्थशास्त्र

कौटिल्य ने वार्ता को अर्थानिथौं की विद्या कहा है अर्थात् इससे लाभ–हानि का ज्ञान प्राप्त होता है। यह मूलतः अर्थ या सम्पत्ति से संबंधित विद्या है। इसीलिए, जैसा ऊपर देखा गया है इसे अर्थविद्या, अर्थवेद, अर्थशास्त्र आदि नामों से संबोधित किया गया है। जो प्राचीन अर्थशास्त्र के विषय थे उनसे उनका साम्य प्रथम दृष्टि में मान लेना उचित लगता है जबकि सत्य इससे कुछ अलग है। दोनों एक आधार–अर्थ पर निर्भर होते हुए भी अलग–अलग हैं। कौटिल्य ने स्वयं इनके अन्तर

को दोनों के क्षेत्र विस्तार का विवेचन करके किया है। वार्ता का विषय विस्तार जहाँ अन्न, पशु, स्वर्ण, वनोत्पादन, विष्टि (वेगार) आदि है जिससे कोश और सेना की व्यवस्था राजा करता है वहीं अर्थशास्त्र से (अर्थ =) भूमिको धारण करने और उसकी सुरक्षा करने से अभिप्राय है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में 'अर्थ' भूमि के अर्थ में प्रयोग हुआ है। सम्पत्ति के अर्थ में नहीं जो वार्ता का मूल आधार है। कौटिल्य ने इसको और स्पष्ट करते हुए एक स्थल पर कहा है कि अर्थशास्त्र के पुराने अध्यापकों द्वारा लिखे गए इन विषय के ग्रंथ को एक ऐसा स्वरूप दिया गया था कि इसके द्वारा भूमि को प्राप्त करके उसकी रक्षा की जा सके। यह राजकुमारों के अध्ययन का विषय माना जाता था जिससे वे लोक कल्याण कर सकें न कि वार्ता की तरह सामान्य जन–समुदाय का आर्थिक विकास और जीवनवृत्ति को समुन्नत करने के लिए वार्ता जहाँ राज्य के सप्तांगों के देव अंग कोश और दण्ड का आधार हैं यहाँ अर्थशास्त्र राज्य शासन है जिसका एक घटक है सप्तांग जिसमें राजा, राज्य आदि राज्य के सात अंगों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और वार्ता के क्षेत्र भिन्न हैं भले ही अर्थशास्त्र में सम्पत्ति वृद्धि विषयक उपाय सुझाए गए हैं।

यद्यपि कुछ विचारकों ने अर्थशास्त्र का भी मूल 'सम्पत्ति' मानने की भूल की है जबकि यह शास्त्र राज्यशास्त्र है। यह बात दूसरी है कि इसमें भी वार्ता के विषय समाहित हैं क्योंकि शासक से इसका सीधा संबंध बनता है। इस दोहरे मानदण्ड के धारण करने के कारण अर्थशास्त्र को वार्ता समझने की भूल बी० सी० ला जैसे विद्वानों ने भी की है।

यद्यपि पीछे चलकर अर्थशास्त्र से आर्थिक पक्ष का महत्त्व समाप्त हो गया। अब यह केवल राज्यशास्त्र मात्र होकर रह गया। फिर भी कोश, दण्ड, आय–व्यय आदि राजनीतिक व्यवस्था के अंग बने रहे क्योंकि इन्हीं के सहारे शासक राज्य में व्यवस्था बनाए रखता है। इसीसे कौटिल्य ने कहा है कि चूँकि वित्त पर ही सारी क्रियाएँ निर्भर करती हैं अतः कोश को प्राथमिकता देना राजा का धर्म है। इसके लिए राजाको सलाह दी गई है कि वह आर्थिक साधनों को जुटाने वाली क्रियाएँ करें जैसे खनन, हाथियों का वन, राजकीय चारागाह एवं पशु प्रजनन व्यापार, सड़क निर्माण, बाजार व्यवस्था आदि। साथ ही राज्य के आर्थिक नियंत्रण की भी बात कौटिल्य कहता है जिससे राज्य में जनता की आर्थिक सम्पन्नता बनी रहे। इससे वार्ता के मूल घटक राज्य की देखरेख में होते थे तथा कुछ पर उसका एकाधिकार भी होता था। इस प्रकार राजकीय आय की वृद्धि के लिए कृषि, सिंचाई, खनिज, मुद्रा, शराब, सड़क, व्यूत आदि पर कर लगाया जाता था। इसके लिए अध्यक्षों की नियुक्तियाँ की जाती थीं। इसी प्रकार विभिन्न पशुओं की देख–रेख के लिए भी अध्यक्ष नियुक्त किये जाते थे। इनके विक्रय पर भी कर लिया जाता था। आबकारी खान और जंगलों पर राज्य का एकाधिकार था। इनके उत्पाद से विविध सामग्रियों

के निर्माण का भी कार्य अध्यक्षों के अधीन होता था। इनमें धोखा करने वालों से भी दण्ड स्वरूप वसूली गई रकम राज्य की आय होती थी। विक्रय पर भी कर लिया जाता था। इस प्रकार वार्ता अनेक विषय अर्थशास्त्र में समाहित किए गए हैं।

13.3.3 वार्ता के अधिकारी शिष्य और ग.रू

वार्ता, जैसा ऊपर वर्णित है, मूलतः वैश्यों से संबंधित बताया गया है। इसकी विषय–वस्तु सम्पत्ति है जिसका कार्य क्षेत्र वैश्य वर्ण है। इसके अन्तर्गत जिन विषयों का समावेश है ये वैश्यों के क्रियाकलाप से संबंधित हैं। इससे यह निष्कर्ष लेना स्वाभाविक है कि वार्ता ज्ञान की वह शाखा है जिसका संबंध अन्य वर्णों से नहीं है।

इसका संबंध क्रियान्वयन में भले ही वैश्यों से रहा हो पर अन्य वर्णों को इसके ज्ञान से वंचित रखने का उल्लेख नहीं है। शूद्रों के लिए भी इसकी छूट दी गई है। वार्ता के विषय क्षेत्र में ऊपर यह देखा गया है अनेक शिल्पों को इसमें जोड़ा गया जो मूलतः शूद्रों का जीवन–वृत्त था। पर भले ही दूसरे वर्ण अपने निर्धारित कर्मो को करते थे फिर भी वे उसकी सीमा लांघ पर वार्ता के विषयों को भी व्यवहारिक रूप में अपना लेते थे। इसकी स्वीकृति धर्मशास्त्रों में आपद्धर्म कह कर दी गई है। इसका अभिप्राय है कि वर्ण धर्म के पालन से जब जीविका न चलती हो तो वह अपने से नीचे वर्ण का व्यवसाय ग्रहण कर सकता है किन्तु फिर परिस्थिति में सुधार होने पर उसे अपने वर्ण धर्म में ही सीमित होने का निर्देश है। पर शूद्रों के संबंध में इसमें छूट दी गई है कि वे अपने ऊपर के वैश्यवर्ण का व्यवसाय आपातकाल में ग्रहण कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि सामान्य जनता को किसी–न–किसी प्रकार वार्ता के विषयों के क्रियान्वयन का अधिकार था।

ब्राह्मणों के विषय में गौतम ने छूट दिया है कि वे द्विजातियों में से किसी भी वर्ण का धर्म पालनकर सकते थे यहाँ तक कि वैश्यों का भी। चूंकि वार्ता जो वैश्यों का मूल विषय था उसके साथ शूद्रोंद्वारा पालन किए जाने वाले शिल्प भी समाहित थे अतः प्रसंगवत वे शूद्रों के भी व्यवसाय ग्रहण करसकते थे किन्तु कुछ बंधनों के साथ जैसे उन्हें सुगंध, पका चावल, पशु, नमक, लाल रंग के कपड़े,दास, अस्त्र, जल आदि के विक्रय के लिए उन्हें मना किया गया है। इसीलिए व्यूलर ने गौतम धर्मसूत्रके अनुवाद में कहा है कि 'ब्राह्मण सरल कृषक थे और सामानों के व्यापार में सुषुप्त व्यापारी थे ब्राह्मण भले ही भूपति थे पर उस पर कृषिकार्य शूद्र करते थे। सभी ब्राह्मणों को यज्ञ तथा भोज में नहीं आमंत्रित किया जाता था क्योंकि अधिकांश ब्राह्मण अपने वर्ण–धर्म से च्युत हो चुके थे। उन्हें अलग– अलग श्रेणियों में रखा जाता था । मनु ने ऐसे ब्राह्मणों की एक तालिका दी है उनमें विपणेन जीविनः (व्यापारी), कृषिजीवी (कृषक), वृक्षारोपक (बाग लगाने वाले), पशुपाल (पशुपालक), कुशीउव (नाट्यकार), वाधुशि (सूदखोर) आदि ब्राह्मणों का उल्लेख है। अभि–संहिता में ऐसे दस प्रकार के विप्रों का उल्लेख है जिसमें वैश्य–ब्राह्मण और शूद्र–ब्राह्मण भी

हैं। ये ब्राह्मण क्रमशः वैश्यों और शूद्रों की जीवनवृत्ति अपनाते थे। अतः वार्ता के विषय दूसरे वर्णों यहाँ ब्राह्मणों द्वारा अपनाए जाने की पुष्टि इससे होती है।

शूद्रों के संबंध में गौतम ने कहा है कि सेवावृत्ति करते हुए वे विभिन्न कलाओं (शिल्पों) को कर सकते हैं। कामन्दक ने माना है कि द्विजों की सेवा करते हुए कला–कौशल उनके जीविका का साधन था चूँकि कला–कौशल वार्ता के अंग हो चुके थे। अतः शूद्रों को वार्ता का भागीदार माना जाना उचित ही है। कौटिल्य ने भी वार्ता को उनकी वृत्ति माना है तथा कार्य कुशलव कर्म को भी साथ में स्वीकार किया है।

13.4 सारांश

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र वार्ता का अध्ययन ही नहीं करते थे अपितु इसको व्यवहार में प्रयोग भी करते थे । क्षत्रियों के लिए यह आवश्यक विषय था क्योंकि शासक के लिए यह अत्यन्त उपयोगी था। इसीसे इसको 'पृथिव्या लाभपालनोपाय' कहा गया है।

दूसरी ओर इसके आचार्यों के संबंध में उल्लेखनीय है कि चूँकि यह वैश्यों की विद्या थी इसलिए वे ही इसके आचार्य थे। दूसरे ब्राह्मणों को विद्याओं का आचार्य माना जाता था। उनका वर्ण धर्म था ही अध्ययन–अध्यापन । अतः विषय के रूप में वे इसका अध्ययन करते थे तथा शिष्यों को वार्ता विषय का अध्यापन करते थे। वे इसके व्यावहारिक प्रयोग में भी सिद्धस्तता प्राप्त होते थे। यह उन्हीं लोगों के द्वारा पढ़ा जाता था जिनको इसका व्यवहारिक ज्ञान होता था। शूद्र भी वार्ता के अध्यापक इस दृष्टि से थे क्योंकि अनेक कलाओं में वे ही निपुण थे। अतः उनसे विविध कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। इसी से यह छूट थी कि जो भी व्यक्ति किसी विद्या में निष्णात हों उससे विद्या सीखना चाहिए।

13.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वार्ता से आपका क्या अभिप्राय है, प्राचीन भारत के दृष्टिकोण से वार्ता का अर्थ बताइये

   ....

   ....

2. प्राचीन भारतीय इतिहास में वार्ता के महत्व को परिभाषित कीजिये।

   ....

   ....

3. वार्ता और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के संबंधों की व्याख्या कीजिये।

....

13.6 संदर्भ ग्रन्थ

ओम प्रकाश	प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास
घोषाल, यू0एन0	हिन्दू पब्लिक लाइफ भाग–1
मैटी, सचीन्द्र कुमार	इकनोमिक लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया।
शर्मा रामशरण	लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसायटी एंड इकोनमी।
दाण्डेकर, आर.एन.	ए हिस्ट्री ऑफ द गुप्ताज, 1941
मजूमदार, बी0पी0	सोशियो इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।

इकाई 14 : श्रेणी संगठन : कार्यप्रणाली एवं सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में भूमिका

इकाई की रूपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 श्रेणी संगठन

14.3 कार्यप्रणाली

- 14.3.1 धार्मिक कार्य
- 14.3.2 जन–कल्याण के कार्य
- 14.3.3 आर्थिक कार्य
- 14.3.4 श्रेणियाँ सामान्य न्यायालय के रूप में
- 14.3.5 सैनिक कार्य

14.4 श्रेणी संगठनों की सामाजिक जीवन में भूमिका

- 14.4.1 वैदिक युग
- 14.4.2 बौद्ध काल
- 14.4.3 मौर्य काल
- 14.4.4 मौर्योत्तर काल
- 14.4.5 गुप्त काल

14.5 आर्थिक जीवन में भूमिका

- 14.5.1 क्रय–विक्रय पद्धति का नियोजन
- 14.5.2 तौल एवं माप

14.6 सारांश

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.8 संदर्भ

14.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में व्यक्ति खानाबदोश अवस्था में रहता था। आवश्यकताओं के विकास तथा सुरक्षा के कारण व्यक्ति झुण्डों में रहने लगा। कालातन्तर में झुण्ड गाँवों में परिवर्तित हो गये। गाँवों का प्रमुख व्यवस्य कृषि था। परन्तु जनसंख्या एवं

आवश्यकता के विकास के कारण विभिन्न प्रकार के उद्योग–धन्धों का विकास हुआ। व्यापारियों ने अपनी सुरक्षा एवं व्यापार की उन्नति के लिए संघों का निर्माण कर लिया। इन संघों का प्रमुख कार्य व्यापार की उन्नति तथा व्यापारिक संघर्षों को निपटाना था।

प्राचीन काल में व्यवसायियों और शिल्पकारों ने अपने–अपने व्यवसाय और शिल्प को एक निश्चित दिशा में विकसित और सुगठित किया तथा उसकी सुरक्षा और उन्नति के लिए अपने–अपने संगठन बनाए। ऐसे संघटित व्यापारिक समूह को 'श्रेणी', 'निगम' या 'निकाय' कहा जाता था। भिन्न–भिन्न श्रेणियाँ भिन्न–भिन्न व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थी। भारत के आर्थिक जीवन को सुसम्पनन एवं अच्छा बनाने में श्रेणी संस्था का अद्वितीय योग रहा है। इस संस्था के अलग–अलग नियम थे, जो राज्य द्वारा मान्य थे। राजा संघों के नियमों का आदर और सम्मान करता था तथा उनके प्रतिनिधियों को राज्य की प्रशासनिक समिति के सदस्य मनोनीत करता था।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको श्रेणी संगठन, कार्यप्रणाली तथा प्राचीन इतिहास के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में श्रेणी संगठनों की भूमिका से संबंधित जानकारी प्रदान करना है।

14.2 श्रेणी संगठन

प्राचीन भारत में व्यावसायियों और शिल्पियों नें अपने – अपने व्यवसाय एवं शिल्प के विकास एवं सुरक्षा के लिये आर्थिक संगठन की संरचना की थी। शिल्पियो एवं व्यावसायियों का ऐसा संगठन जो उत्पादन तथा व्यापार के कार्य में संलग्न था, उसे प्राचीन साहित्य में ''श्रेणी'' के नाम से सम्बोधित किया गया है। साहित्य में ही अन्यत्र गण, पूग, व्रात, निगम शब्द भी आर्थिक संगठन के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। श्रेणी एक लघु जनतंत्रात्मक संगठन था। भिन्न – भिन्न श्रेणियाँ भिन्न भिन्न व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थीं। प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था को समुन्नत, सुसम्पन्न एवं गतिशील बनाने में श्रेणी संगठनों का अद्वितीय योगदान था। इसके अतिरिक्त श्रेणी संगठन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, प्रशासनिक क्षेत्र के उन्नति में भी प्रेरणा दायक थे जिससे राष्ट्र का भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान हुआ।

प्राचीन साहित्य में श्रेणी के लिये अनेक शब्द प्रयुक्त थे जैसे श्रेणी, संघ,पूग, निकाय, समूह, निगम, व्रात। इस प्रकार की आर्थिक संस्थाओं का उदय वैदिक युगमें ही हो चुका था। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार आदि इतिहासकारों का मंतव्य है कि श्रेणी संगठनों का अरुणोदय वैदिक युग में ही हो गया था उन्होंने श्रेणी का पूर्ण

रूप वैदिक 'गण' माना है। डॉ० मजूमदार ने वृहदारण्यक उपनिषद (1।4।12) में वर्णित गणश शब्द का आशय आर्चाय शंकर के भाष्य के आधार पर किसी एक शिल्प या व्यवसाय में लगे हुए वैश्यों के गण प्रमुख के रूप में स्पष्ट किया है।' ऋग्वेद में श्रेणी के विषय में उल्लेख है कि वह हंसों की भाँति समूह में कार्य करती थीं ऋग्वेद में 'पणि' जैसे व्यापारियों का भी उल्लेख हुआ है जो सुरक्षा को अवधान में प्रकाशित कर समूह में व्यापार के लिये जाया करते थे। लुडविग का कथन है कि 'पणि' आदिम व्यापारी थे जो अरब, उ० अफ्रीका के व्यापारियों की भाँति सार्थो (काफिलों) में दूर देश की यात्रा करतेथे. ये अपनी व्यापारिक वस्तु एवं प्राण की सुरक्षा के लिये अपने साथ एक आरक्षी सेना भी रखते थे। राधा कुमुद मुकर्जी का कथन है कि ऋग्वेद एवं उत्तर वैदिक ग्रंथों में उल्लिखित श्रेणी, गण, पूग, तथा व्रात व्यावसायिक संगठनों के पूर्व रूप थे जिम्मरे ने 'पणि शब्द का अभिप्राय व्यापारी से लगाया है।

आर्थिक क्षेत्र में संगठन का उल्लेख वृहदारण्यक उपनिषद के एक अंश में उपलब्ध होता है इस सन्दर्भ में वैश्य वर्ग के देवताओं को गणों में विभक्त किया गया है। शंकराचार्य ने वृहदारण्यक उपनिषद के इस अंश पर टीका करते हुये लिखा है कि प्रथम दो वर्णों के निर्माण से ब्रह्मा संतुष्ट नहीं हुए क्योंकि ये दोनों सम्पत्ति का अर्जन करने में समर्थ नहीं थे, इस लिये उन्होंने वैश्यों की उत्पत्ति की, ये वैश्य गम कहलाये। उपनिषदों से पूर्व रचित संहिताओं में में गण एवं प्रात का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में गण एवं प्रात शब्द समूह के संसूचक है इसी प्रकार द्युत क्रीडा के सन्दर्भ में गणपति एवं व्रातपति शब्दों का उल्लेख मिलता है। वाजसनेयी संहिता में भी गण एवं गणपति शब्द का उल्लेख है।

कौषितकि उपनिषद में श्रेष्ठिन और श्रेष्ठय शब्द का उल्लेख संप्राप्त है।आर० के० मुकर्जी एवं एस० पी० नियोगी इसका अर्थ वाणिजों का संगठन या श्रेणी का प्रधान से संगुम्फित करते हैं। जी० एल० आद्या का विचार है कि वैदिक साहित्य में वर्णित पणि, गण, व्रात, श्रेष्ठिन अनुवर्ती कालों में व्यावसायिक संगठनों के पूर्व रूप स्वीकार किये जा सकते हैं पुष्पा नियोगी को श्रेणी संगठनों की उत्पत्ति उत्तर वैदिक काल अनुमन्य है बीना जैन श्रेणियों की उत्पत्ति गौतम धर्म सूत्र के रचना काल सेकिंचित काल पूर्व अंगीकार करती हैं। वैदिक संदर्भों के आधार पर आर० सी० मजूमदारनिष्कर्ष अभिव्यक्त करते हैं कि ' भारतीय समाज के आर्थिक जीवन में संगठन की प्रवृतिउत्तर वैदिक काल तक निश्चित ही स्पष्टता से संपिण्डित हो गई थी, इनके विकास प्रारम्भिक अवस्थाओं को अष्टम शताब्दी ई० पू० के पूर्व पर्यन्त रेखांकित किया जासकता है।

बौद्ध साहित्य, जातको, धर्मसूत्रों के साक्ष्य से अभिव्यंजित होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० तक श्रेणियों का संगठन विकास के पथ पर अग्रसर हो चुका था जातक ग्रंथों में इस तथ्य का उल्लेख प्राप्त होता है कि व्यापारियों के सार्थ दुर्गम

मागाँ से होते हुये दूरस्थ प्रदेशों की यात्रा करते थे। मार्ग में लुटेरों एवं युद्धप्रिय कबीलों से रक्षा के निमित्त व्यापारियों ने अपने संगठन स्थापित किये और सुरक्षा के लिये अपनी सैन्य टूकड़ी भी सुसज्जित रखते थे।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी श्रेणी संगठन के स्वरूप के विषय में सूचना उपलब्ध है। अर्थशास्त्र में एक स्थल पर वर्णन है कि अक्षपटलाध्यक्ष को नियमित रूप से निर्धारित पंजिकाओं में श्रेणीधनिगमों की प्रथाओं, विधियों उनके व्यवसाय एवं वस्तु के आदान – प्रदान सम्बन्धी बातों को लेखबद्ध करना चाहिये, अर्थशास्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि श्रेणियों के विश्वासपात्र आयुक्त या मंत्री शुल्क एकत्रित करने के लिये नियुक्त किये जाते थे। मौर्य काल के आर्थिक जीवन में श्रेणियों का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। एक आदर्श नगर योजना में व्यावसायिक एवं व्यापारिक श्रेणियों के निवास के लिये पृथक – पृथक स्थान सुरक्षित होते थे तथा उनसे प्राप्त होने वाला कर राजकीय आय का महत्वपूर्ण स्रोत होता था।

14.3 कार्यप्रणाली

श्रेणी–संगठन के मुख्य कार्य अपने उद्योग और व्यवसाय को भली–भाँति से संगठित और उनको उन्नतिशील बनाना था, इसलिए उन्होंने अनेक नियम बनाए। अपने व्यवसाय और उद्योग के अतिरिक्त उन्होंने अनेक कार्य किए। संगठन के विभिन्न कार्य होते थे। न्यायालय के गठन में श्रेणी का प्रतिनिधित्व होता था तथा उसे एक संघटन के रूप में मान्यता प्राप्त थी। खेत, भूमि, उद्यान आदि से संबंधित विवादों में उसके सदस्य न्यायालय में प्रतिनिधित्व करते थे। खेत, बगीचे के रूप में श्रेणी की अचल सम्पत्ति भी होती थी। प्रबन्धकारी और सदस्य श्रेणी से ऋण ले सकते थे, जिसे उचित समय पर वे अपनी श्रेणी को लौटा सकते थे। श्रेणी की ओर से दान–धर्म के अन्तर्गत ब्राह्मणों को दान तथा मन्दिरों का निर्माण किया जाता था।

श्रेणी के कर्तव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण थे, जो समाज और देश के उत्थान में प्रधान तत्व थे, वह अपने पृथक नियम बनाती थी, इस नियम का उल्लंघन करना राजद्रोह के समान माना जाता था। उसके प्रतिनिधि उसके नाम पर न्यायालय संबंधी कार्य सम्पन्न करते थे, जहाँ उसका बहुत अधिक सम्मान था। अत्यन्त चरित्रवान, कार्य के प्रति चिन्हित रहने वाला और शुद्ध व्यक्ति ही प्रबन्धकारी होता था, जो संस्था के सदस्यों की कार्य प्रणाली की देख–रेख करता था। अवमानना करने वाले सदस्यों को वह दण्ड देता था, वह समिति के माध्यम से संगठन के नियमों को पालित करता था।

श्रेणी संगठन आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न रहते थे, इसलिए उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के सामाजिक और धार्मिक कार्य सम्पन्न किए जाते थे, जो समाज और देश दोनों के हित में होते थे। जनकल्याणकारी, धार्मिक, आर्थिक, वैधानिक, सैनिक आदि विभिन्न कार्य उसके द्वारा होते थे। विपत्ति और संकट के

समय राज्य को इन श्रेणियों से ऋण भी प्राप्त होता था।

14.3.1 धार्मिक कार्य

प्राचीन काल में श्रेणियों ने धर्म संबंधी अनेक निर्माण कार्य किए। बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्म के अनेक मन्दिर और देवताओं की प्रतिमाएँ इस सगठन के निर्देश पर निर्मित की गई। इस संबंध में बौद्ध, जैन, हिन्दू साहित्य के विपुल प्रमाण मिलते हैं। अभिलेखों से पता चलता है कि वणिकों और शिल्पियों ने व्यक्तिगत और संयुक्त रूप से अनेक प्रकार के दान दिए। सांची के अभिलेख के स्तूपों से ज्ञात होता है कि महाजनों और शिल्पकारों ने ई.पू. तीसरी सदी से पहली सदी तक अनेक प्रकार के उपहार दिए। कन्हेरी के गुफाओं के अभिलेख में भी अनाज की व्यापरियों द्वारा एक गुफा और एक कुण्ड का दान अंकित है। कई अभिलेखों में इनके द्वारा धार्मिक संस्थाओं को नगद धन देने का उल्लेख मिलता है।

मन्दसौर अभिलेख' में उल्लिखित है कि रेशम के व्यापारियों ने सूर्य का एक भव्य मन्दिर निर्मित करवाया तथा कालान्तर में उसके भग्न होने पर पुनः उसी श्रेणी ने उसकी मरम्मत भी करवायी थी। 877 ई. के ग्वालियर अभिलेख में भी मंदिर के लिए तैलिक श्रेणी ने तेल और मालिक श्रेणी ने माला प्रदान करने की स्वीकृति दी थी।

14.3.2 जन–कल्याण के कार्य

बृहस्पति के अनुसार ''श्रेणियाँ अनेक लोक–कल्याण से युक्त कार्य करती थी, जैसे सभागृह या यात्रियों के लिए विश्राम गृह का निर्माण मंदिर बनवाना, सरोवर खुदवाना, उद्यान लगवाना आदि विभिन्न प्रकार के जन–कल्याणकारी कार्य श्रेणी संगठन द्वारा देश के विभिन्न स्थानों पर सम्पन्न कराए जाते थे।'' इनके द्वारा दीन–दुखियों और निर्धनों को सहायता भी प्रदान की जाती थी। दुर्भिक्ष में पीड़ितों की रक्षा करना भी इनका कर्तव्य था। श्रेणियों द्वारा जन–कल्याण किए जाने के अनेक अभिलेख मिलते हैं। मन्दसौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि अन्न विक्रेताओं की श्रेणी द्वारा हौज का निर्माण कराया गया था।

14.3.3 आर्थिक कार्य

प्राचीन समय में श्रेणियाँ अपनी मुद्राएं भी चलाती थीं। तक्षशिला से प्राप्त तीसरी शताब्दी ईस्वी की मुद्रा पर 'नैगम' उत्कीर्ण मिलता है। इससे प्रमाणित होता है कि तक्षशिला में इसका प्रचलन था। मुद्राओं के अतिरिक्त मुहरों का भी वे प्रचलन करती थीं। इलाहाबाद के पास भीटा के उत्खन्न से मार्शल की मोहर का एक सांचा मिला है। इसके अतिरिक्त यहाँ चार कुषाणकाल और एक गुप्त काल की मोहरें भी मिली हैं, जिस पर 'निगम' लिखा है। बसाद (वैशाली) से गुप्तकाल की 274 मुहरें मिली हैं। इससे स्पष्ट होता है कि कुमारामात्म और नगर श्रेष्ठि की तरह सार्थवाह

और निगम भी अपनी मुहरें प्रचलित कराते थे।

श्रेणियाँ आधुनिक बैंकों का भी कार्य करती थीं। वे लोगों को ऋण देती थीं और ब्याज के साथऋण वसूल करती थीं। कुमारसंभव' और 'शाकुन्तलम' में भी निगमों की बैंक प्रणाली का संदर्भ मिलताहै। ब्याज से बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र दिए जाते थे। तीसरी शदी के एक अभिलेख में वर्णित है कि श्रेणियों ने कुछ धन जमा किया था, जिसके ब्याज से संघाराम में निवास करने वाले रोगियों की औषधि आदि की व्यवस्था की गयी थी।

श्रेणियां राज्यों की भूमि की देखभाल भी करती थीं। बंगाल से प्राप्त अभिलेख में श्रेणियों को राजकीय भूमि की देखभाल करने की व्यवस्था को बताया गया है। इन श्रेणियों की यह भी एक विशेषता थी कि इसमें इसके सदस्यों का कभी–कभी साझेदारी में सम्मिलित होने का वर्णन है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित लेखाध्यक्ष नामक अधिकारी रजिस्टरों में निगमों की प्रथाएं आदि का विवरण रखता था। ये श्रेणियाँ बाजारों में क्रय–विक्रय की वस्तुओं के मूल्यों पर दृष्टि रखती थी तथा अधिक लाभ लेने वालों को नियन्त्रित करती थीं। श्रेणियों के सदस्य संघों के रूप में दूर दूर तक जातें थे और अपने संघ के व्यावसायिक लाभ में सहयोग प्रदान करते थे। आन्तरिक व बाह्य व्यापार भी श्रेणियों की देख–रेख में ही होता था।

14.3.4 वैधानिक कार्य

जातक साहित्य में हमें श्रेणियों की वैधानिक शक्ति के रूप में महत्व प्राप्त का ज्ञान होता है। गौत्तम ने श्रेणियों के विधान को जान–बूझकर उनके नियमों के अनुसार निर्णय की चर्चा की है। विभिन्न स्मृतियों तथा याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद आदि के अनुसार राजा को अनेक नियमों तथा समझौते को इनके सदस्य पर आरोपित करना चाहिए। उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी थी।

14.3.4 श्रेणियाँ सामान्य न्यायालय के रूप में

श्रेणियाँ न्यायालय के रूप में अपने सदस्यों पर अंकुश रखती थीं। नारद के अनुसार श्रेणी का चार सामान्य न्यायालय में दूसरा स्थान था। श्रेणी को सामुहिक रूप में अपनी परम्पराओं के अनुसार अपने सदस्यों पर न्यायिक अधिकार प्राप्त था। कुल, श्रेणी, गज तथा रोजा नामक चार न्यायालयों में वृस्पिति, नारद और याज्ञवल्यक्य के अनुसार श्रेणी का दूसरा स्थान था। इसकी कमियों को दूर करने के लिए इसके निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील का विधान था। इसका न्याय संबंधी कार्य इसके सदस्यों तक सीमित था। इसके न्यायिक कार्य करने की दृ ष्टि दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेखों (433 से 438 ई.) से होता है।

14.3.5 सैनिक कार्य

श्रेणियों की शक्ति बढ़ने और समाज में उनका विस्तार होने पर उनकी सैन्य–व्यवस्था का स्परूप भी विकसित हुआ। कालान्तर में उन्हें सेना रखने की अनुमति भी प्राप्त हो गयी। कौटिल्य ने कम्बोज और सौराष्ट्र प्रदेशों में क्षत्रियों की श्रेणियों की चर्चा की है। जो खेती, व्यापार और युद्ध के माध्यम जीविका अर्जित करता था। कौटिल्य ने 'श्रेणी बल' का उल्लेख करते हुए उसकी शक्ति की चर्चा की है। बृहस्पति और याज्ञवल्क्य जैसे धर्मशास्त्रकारों ने भी श्रेणियों की सैनिक शक्ति का संदर्भ दिया है। डॉ. भंडारकार ने श्रेणियों द्वारा प्रतिपादित सैनिक तथा डॉ. आर. सी. मजूमदार ने श्रेणी बल का अर्थ कोई–न–कोई व्यवसाय तथा युद्धविषयक कार्य करने वाला बतलाया है। रामायण में सयोध श्रेणी का उल्लेख हुआ है । महाभारत में भी श्रेणी बल का संदर्भ मिलता है। 'मंदसौर–अभिलेख' से ज्ञात होता है कि रेशम बुनने वाले श्रेणी के लोग धर्नुविधा में पारंगत होकर अच्छे यौद्धा के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं।

14.4 श्रेणी संगठनों की सामाजिक जीवन में भूमिका

प्राचीन भारत में सैन्धव काल से ही एक समृद्ध श्रेणी वर्ग का अभ्युदय दृ ष्टिगोचर होने लगता है यद्यपि पुरातात्विक साक्ष्यो से सैन्धव युगीन श्रेणियों के सामाजिक स्थिति के विषय में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नही होता है तथापि उत्खनन मे प्राप्त पक्के भवन, आभूषण, बहुमुल्य रत्न आदि रेखांकित करते है कि इस युग में एक समृद्ध श्रेणी वर्ग समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर रहा था। सैन्धव काल के पश्चात विभिन्न युगो में आर्थिक संगठन श्रेणियों की सामाजिक स्थिति एवं प्रभाव क्षेत्र में उतरोत्तर विकास का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। विभिन्न साक्ष्यो से सूचना प्राप्त होती है कि जिस युग में राज्य का आर्थिक क्षेत्र पर कठोर नियन्त्रण होता था उस युग में व्यापारियो की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में गिरावट उत्पन्न हो जाती थी और जिस युग में राज्य की ओर से व्यापार सम्बन्धी प्रोत्साहन एवं सुरक्षा का अवसर प्रदान किया जाता था, उस युग में श्रेणियों की समृद्धि एवं प्रतिष्ठा में अत्यधिक वृद्धि परिलक्षित होने लगता है। विभिन्न युगो में श्रेणियों की सामाजिक स्थिति एवं प्रभाव का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओ के आधार पर स्पष्ट किया जा रहा हैः–

14.4.1 वैदिक युग

इस युग का व्यापारी वर्ग यज्ञिक अनुष्ठानों मे धन व्यय नहीं करता था इसीलिए ऋग्वेद मे इनकी निंदा की गई है। वैदिक समाज मे ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के अतिरिक्त शेष लोग 'विश' के अन्तर्गत आते थे। विश जन सामान्य की वर्ग था। इसे ऋग्वेद मे 'बलिहत' अर्थात बलि कर देने वाला कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि इसी 'विश' से क्रमशः वैश्य वर्ग उत्पन्न हुआ जिसका स्पष्ट उल्लेख पुरुष

सूक्त में भी मिलता है। विश के लोग मुख्यतः उत्पादन कार्यों मे लगे हुए थे। सम्भवतः पूर्व वैदिक समाज मे व्यापारियों की स्थिति अच्छी नहीं रही होगी। श्रेणी वर्ग विश के अन्तर्गत ही सम्मिलित था अतः उनकी सामाजिक स्थिति सामान्यजनों जैसी रही होगी।

उत्तरवैदिक समाज मे वैश्यों की सामाजिक स्थिति सम्पन्न वर्ग की प्रतीत होती है। ब्राह्मण ग्रंथो मे वैश्यों का उल्लेख करदाताओं के रूप में मिलता है। अथर्ववेद मे कहा गया है कि पशुपालन करने वाला वैश्य कर के रूप मे गाय, बैल एवं अश्व दिया करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण मे राजा को वैश्यों का भक्षण करने वाला कहा गया है। उत्तरवैदिक समाज मे वैश्यों की गणना द्विज के रूप मे की जाती थी तथा उसे राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक जीवन मे अनेक सुविधाये प्राप्त थी। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों के समान ही वैश्यों को भी वैदिक शिक्षा की सुविधा प्राप्त थी।

14.4.2 बौद्ध काल

बौद्ध काल मे व्यापार के क्षेत्र मे अत्यधिक प्रगति दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न नगरों मे अनेक सम्पन्न व्यापारी या समृद्ध सेठ निवास करते थे। जिनको समाज मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जनपदों में भी इसी प्रकार के धनी सेठ रहते थे जिन्हे जनपद श्रेष्ठि कहा जाता था। ये लोग व्यापार के साथ–साथ ऋणादान का भी कार्य करते थे। धम्मपदअट्ठकथा मे उल्लेख मिलता है कि राजा प्रसेनजीत के राज्य में कोई बड़ा सेठ नही था अतः प्रसेनजीत की प्रार्थना पर मगध नरेश बिम्बिसार ने अपने राज्य के प्रसिद्ध सेठ धनंजय को कोसल में बसने के लिए भेजा था। धनजंय ने साकेत मे आकर अपना व्यवसाय आरम्भ किया और अत्यणिक धन अर्जित किया।

महाउम्मग जातक से ज्ञात होता है कि बड़े–बड़े व्यापारी मुख्यतः नगरो को ही अपना केन्द्र बनाये हुए थे। कुछ व्यापारियों के पास भूसम्पत्ति भी होती थी। मेण्डक, महासोध, अनाथपिण्डक इत्यादि ऐसे ही सम्पन्न व्यापारी थे। नगरो मे समृद्ध व्यापारी अपनी दानशीलता के कारण समाज मे समादृत थे। श्रावस्ती का श्रेष्ठि अनाथपिण्डक दीन दुःखियों को भोजन कराया करता था। समृद्ध व्यापारी अपनी कन्याओं की राजकुलों से विवाह करने का प्रयत्न करते थे। एक जातक से ज्ञात होता है कि 80 करोड़ धन का स्वामी किरीटवक्ष नामक श्रेष्ठि ने अपनी रूपवती कन्या का विवाह शिव नामक राजा के साथ किया था।

14.4.3 मौर्य काल

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल मे सम्पूर्ण आर्थिक एवं व्यापारिक क्रियाकलाप राज्य के नियन्त्रणाधीन था। राज्य ही सबसे बड़ा भूस्वामी,

उद्योगधंधों का स्वामी और सर्वोच्च उत्पादक था। राज्य की पण्यशालाओं मे विक्रय के लिए नाना प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था और उत्पादित वस्तुओं का राज्य के विभिन्न भागों मे विक्रय की व्यवस्था भी राज्य करता था। राजकोष की वृद्धि के लिए कृषक, व्यापारी और शिल्पी से अधिकाधिक कर प्राप्त किया जाता था। इस राज्य नियंत्रित प्रणाली का प्रभाव व्यापारियों और शिल्पियों की आर्थिक स्थिति पर पड़ा। यही कारण है कि अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों मे कहीं भी संकेत नहीं प्राप्त होता है कि तत्कालीन समाज मे व्यापारी वर्ग समृद्ध था।

अर्थशास्त्र के 'वैदेहेकरक्षणम' प्रकरण के विवरण से तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक जीवन मे व्यापारियों की स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। अर्थशास्त्र के अनुसार संस्थाध्यक्ष व्यापारियों के माल के आयात–निर्यात की यथोचित व्यवस्था करते थे और इस बात पर दृष्टि रखते थे कि व्यापारी क्रय–विक्रय करते समय माप–तौल मे कोई गड़बड़ी न करे। इसी प्रकरण में कहा गया है कि यदि आकस्मिक विपत्ति के कारण किसी व्यापारी का माल नष्ट हो जाय तो संस्थाध्यक्ष को दूसरा माल देकर उसकी सहायता करनी चाहिए। राज्य की ओर से व्यापारियों को सुरक्षा भी प्रदान की जाती थी। अर्थशास्त्र के अनुसार यदि यात्रा करते समय कोई व्यापारी किसी ग्राम मे ठहरे तो उसे अपने सम्पूर्ण सामान की सुरक्षा ग्राम के मुखिया को दे देनी चाहिए। यदि इसके पश्चात व्यापारी की कोई वस्तु चोरी हो जाय तो उसे लौटाने का दायित्व ग्राम के मुखिया का होता है।

अर्थशास्त्र में ही उल्लेख मिलता है कि व्यापारियों द्वारा विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य मे समानता होनी चाहिए तथा व्यापारियों को अपने लाभ का एक निश्चित अंश नियमित कर के रूप में राजा को देना चाहिये।

मौर्यकाल मे व्यापारियों के ऊपर नाना प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये थे। एक कठोर नियम यह था कि कोई भी व्यापारी या विक्रेता किसी भी पण्य वस्तु को उसके उत्पादन स्थल पर नहीं विक्रय कर सकता था। विक्रय स्थल, मण्डी या जनपद से बाहर माल ले जाते समय सार्थ को मार्ग कर एवं चुंगी देनी पड़ती थी। व्यापारियों द्वारा आयातित माल बाजार मे उचित दाम पर विक्रय करना पड़ता तथा बिना विक्रीत माल को स्थानीय अधिकारी विक्रय के लिए अपने पास रख लेता था। वह अधिकारी अपनी जानकारी के अनुसार ही वस्तु का दाम व्यापारी को भुगतान करता था। शुल्कशालाओं मे व्यापारियों का नाम, उनकी जाति, निवास स्थान तथा उनके माल आदि का विवरण लेखबद्ध किया जाता था। व्यापारीगण अपने माल को इस आशा मे दीर्घावधि पर्यन्त जमा करके नही रख सकते थे कि उन्हें कही अन्यत्र ले जाकर अधिक लाभ पर उन्नत दाम पर विक्रय किया जा सकेगा। अर्थशास्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि शुल्क शाला के निकट एकत्र होकर व्यापारी अपने माल का नाम, उसकी कीमत एवं वजन आदि बताते थे।

मौर्य युग मे व्यापार के क्षेत्र मे अत्यधिक प्रगति हुई किन्तु इसका यथेष्ट लाभ वणिक वर्ग को नही मिलकर राज्य को अधिक प्राप्त हुआ। ऐसी स्थिति मे व्यापारियों का सामाजिक सम्मान बहुत अधिक प्रतिष्ठित नही हो सका। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत वैश्यो को तीसरा स्थान प्रदान किया गया था। दूसरी ओर बौद्ध धर्म के अन्तर्गत वर्णगत श्रेष्ठता को अधिक महत्व नहीं दिया गया था और व्यापारियो के प्रति अधिक उदारता का भाव दर्शाया जाता था अतः सम्भव है कि अशोक के शासनकाल मे वणिक वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा मे कुछ वृद्धि हुई हो किन्तु वणिक वर्ग की स्थिति महाजनपद युग और शुंग–सातवाहन युगीन व्यापारियो की अपेक्षा उच्च नही मानी जा सकती है। फिर भी अनेक ऐसे ऐतिहासिक साक्ष्य अवश्य है जिनसे संकेत मिलता है कि मौर्ययुग मे वणिक वर्ग के कुछ लोग समाज मे प्रतिष्ठित स्थान रखते थे।

14.4.4 मौर्योत्तर काल

मौर्योत्तर काल मे विदेशी आक्रमणो के कारण वर्ण व्यवस्था को गहरा आघात पहुंचा। अनेक विदेशी जातियों द्वारा भारत मे ही स्थायी निवास बना लेने के कारण भारतीय समाज चार वर्णों के अतिरिक्त अनेक जातियों मे भी विभाजित हो चुका था। सम्भवतः इसीलिए मनुस्मृति मे सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने तथा चार्तुवर्ण व्यवस्था को प्रतिष्ठित बनाये रखने का प्रयास किया गया है। मनु ने सभी वर्णो के लिए निर्धारित कर्तव्यों के पालन पर बल दिया है और कहा है कि लोक वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख, बाहु, उर, एवं पैर मे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र को उत्पन्न किया। याज्ञवल्क्य स्मृति मे इसी प्रकार का विवरण प्राप्त होता है। इन सभी वर्णो के लिए अलग–अलग कर्मो का विधान करते हुए वैश्य के लिए मुख्यतः कृषि, पशुपालनएवं वाणिज्य द्वारा जीविकोपार्जन करने की अनुशंसा की गई है। मनु का यह भी कहना है कि यदि वैश्य एव शुद्र अपने–अपने कर्तव्यों का त्याग देंगे तो जगत व्याकुल हो जायेगा और समाज मे विश्रृखलता आ जायेगी। वणिक वर्ग के महत्वाकांक्षी लोग मुख्य रूप से व्यापार एवं वाणिज्य मे अधिक संलग्न थे। मनु का कथन है कि पशुओ की रक्षा करना, दान देना, व्यापार करना, ब्याज लेना, कृषि करना वैश्यो का प्रधान कर्म था। महाभारत से ज्ञात होता है कि वैश्य समाज का ऐसा वर्ग था जो धनार्जन के लिए कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य का अनुसरण करता है।

मौर्योत्तरकाल मे औद्यागिक एवं व्यापारिक प्रगति के फलस्वरूप व्यापारिक कार्यों मे न केवल वैश्य वर्ग वरन ब्राह्मण एवं क्षत्रिय भी संलग्न हो गये थे। कान्हेरी से प्राप्त एक अभिलेख मे गजसेन और गणमित्र नामक क्षत्रिय भाईयो का उल्लेख है इनमे से एक का पुत्र वणिक था जिसने एक चैत्य का निर्माण कराया था।'' विभिन्न स्मृतिकारो ने भी ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण के लोगो को संकटकाल मे व्यापार के द्वारा जीविकोपार्जन करने की छूट प्रदान की है।

मौर्योत्तर काल में शिल्प उद्योग एवं व्यापार के क्षेत्र मे अत्यधिक विकास के फलस्वरूप जहाँ एक ओर शासन का ध्यान व्यापारियो एवं शिल्पियों की ओर आकृष्ट हुआ वही दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था के नियामको के द्वारा भी वणिको की सुविधा के लिए अनेक नियमो एवं व्यवस्थाओ का प्रतिपादन किया गया। इस युग मे शिल्पी एवं व्यापारिक संगठन इतने प्रभावशाली हो गये थे कि कभी–कभी प्रशासक को भी उनके साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करने बल देना पड़ता था। मनु ने कहा है कि राजा को नवविजित प्रदेशो मे शिल्पियो की श्रेणियों द्वारा निर्मित धर्मों (नियमों) का आदर करते हुए अपने नियम का प्रतिपादन करना चाहिये। याज्ञवल्क्य स्मृति मे भी राजा द्वारा श्रेणियो के नियमो का आदर करने की बात कही गई है। इस व्यवस्था का यह फल हुआ किश्रेणियां न केवल राज्य के ढांचे के एक निश्चित अंग के रूप मे प्रतिष्ठित हुई अपितु उसके नियम एवं अधिकार को शासन द्वारा मान्यता प्रदान किया गया फलस्वरूप श्रेणी संस्थाये अधिक विकसित हुई और उनकी लाभकारिता मे जनता का विश्वास बढ़ा।

अभिलेखीय साक्ष्यों से यह भी संकेत मिलता है कि व्यापारियो एवं उच्चकोटि के शिल्पियों का सामाजिक स्तर एक समान माना जाता था। वे एक दूसरे का व्यवसाय भी ग्रहण करते थे तथा परस्पर वैवाहिक सम्बंध भी स्थापित करते थे। एक अभिलेख मे एक व्यापारी पुत्र द्वारा स्वर्णकार व्यवसाय अपनाने का विवरण मिलता है। एक अन्य अभिलेख मे उल्लेख मिलता है कि एक मणिकार की पुत्री लोहे का व्यापार करने वाले व्यापारी के साथ व्याही थी। ये सभी विवरण इस बात का संकेत करते हैं कि विवेच्य युग मे व्यापारियों की सामाजिक स्थिति सुदृढ़ एवं सम्मानित अवस्था में पहुंच गयी थी।

14.4.5 गुप्त काल

गुप्त शासकों ने दिग्विजय अभियानो के द्वारा एक विशाल साम्राज्य का गठन किया था। गुप्त शासको ने लगभग दो शताब्दी तक राजनीतिक स्थिरता एवं शांति बनाये रखा, मार्गों मे यात्रियों की सुरक्षा सुनिश्चित किया और वाणिज्य–व्यापार को पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया फलस्वरूप वणिक वर्ग की सामाजिक स्थिति में काफी परिवर्तन आया। पंचतंत्र मे जीविको पार्जन के अनेक साधनों मे वाणिज्य–व्यापार को इसलिए उत्तम बताया गया है क्यो कि इसमे धन एव यश दोनो की प्राप्ति होती है।

गुप्त काल मे राजस्व का एक प्रमुख स्रोत कर/शुल्क था। जो व्यापारियों के द्वारा ही प्रदान किया जाता था। मृच्छकटिक मे उल्लेख मिलता है कि अधिकांश व्यापारिक वस्तुओं पर कर लिया जाता था। हितोपदेश मे कहा गया है कि सरकारी शुल्क के भय से कोई व्यापारी अपना व्यापार नही छोड़ देता। परन्तु कर से बचना कुछ व्यापारियों का स्वभाव बन गया था। अनाज का व्यापारी यदि कर बचाने के प्रयास मे पकड़ा जाता था तो उसे निर्धारित कर से आठगुना अर्थदण्ड देना पड़ा

था, तथा नकली वस्तु बनाने, बेचने वाले पर सम्बन्धित वस्तु के मूल्य का सवा छः गुना जुर्माना किये जाने नियम था। विवेच्य काल मे व्यापारियो से कर प्राप्त करने और उनके गतिविधियो पर नियंत्रण राज्य द्वारा स्थापित किया गया था फिर भी व्यापार एक लाभप्रद वृत्ति के रूप मे मान्य था। वणिक वर्ग धन एवं समृद्धि के लिए लालायित रहते थे। रामशरण शर्मा का कथन है कि वैश्यों का एक अन्य वर्ग जो कृ षि, पशुपालन एवं हीनकोटि के शिल्पो मे संलग्न था, इनकी स्थिति सम्मानयुक्त नही थी तथा निर्धन वैश्य ता शुद्रो के समतुल्यस्थिति में पहुंच गये थे।

14.5 आर्थिक जीवन में भूमिका

किसी भी देश के आर्थिक सम्पन्नता का मूल आधार सुदृढ़ अर्थव्यवस्था माना जाता है। प्राचीन भारत में आर्थिक गतिविधियों को समुन्नतशील बनाने में आर्थिक संगठनो की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। व्यापार–वाणिज्य एवं शिल्प के विकास के परिणामस्वरूप वृहत स्तर पर वस्तुओं (व्यापारिक मालों) का उत्पादन एवं विपणन किया जाने लगा। अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में व्यापारिक वस्तुओं के क्रय–विक्रय, माप तौल, विनिमय के लिए कुछ नियम निर्धारित किये गये जिससे व्यापारिक लेन देन में किसी प्रकार की कठिनाई या अवरोध उत्पन्न न हो सके । आर्थिक नीति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के आर्थिक पद्धतियों यथा क्रय–विक्रय, माप तौल, को सुव्यवस्थित एवं परिवर्धित बनाने मे आर्थिक संगठनो का विशेष योगदान रहा है।

14.5.1 क्रय–विक्रय पद्धति का नियोजन

प्राचीन भारत में व्यापार एवं वाणिज्य के अन्तर्गत क्रय–विक्रय प्रणाली को संवर्धित एवं व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया गया था। विभिन्न व्यवस्थाकारों एवं स्मृतिकारों ने क्रय–विक्रय के विषय में अनेक प्रकार के नियमों का उल्लेख किया है। प्रायः व्यापारी एवं व्यवसायी नियमानुसार किसी प्रकार की संविदा अथवा सौदा करते थे। मनु का कथन है कि वाणिज्य, गिरवी, बट्टा, कृषि एवं पशुओंकी रक्षा वैश्यों का मुख्य कार्य है। मनु स्मृति में ही उल्लिखित है कि उपनयादि संस्कार में संस्कारित हुए वैश्य को विवाह करने के पश्चात् व्यापार वाणिज्य एवं पशुपालन से सदायुक्त होकर जीवन–निर्वाह करना चाहिए। स्मृति साहित्य में क्रय–विक्रय सम्बन्धी प्रावधानो का वर्णन अलग–अलग शीर्षक के नाम से किया गया है। मनु ने इसका उल्लेख 'क्रयविक्रयनुशय' शीर्षक के अभिधान से किया है। जबकि याज्ञवल्क्य ने इसका विवेचन 'क्रीतानुशय' एवं 'विक्रीया संप्रदान' के रूप में किया है। नारद ने क्रय–विक्रय सम्बन्धी नियमो की व्याख्या 'विक्रीया समादान' एवं 'कृत्वानुशय' शीर्षक के अन्तर्गत किया है।

स्मृतिकारो ने क्रय–विक्रय से सम्बन्धित विविध नियमो का विस्तृत विवेचन किया है। मनु का कथन है कि किसी भी वस्तु का क्रय–विक्रय करने के पश्चात दस दिन तक परीक्षणोपरान्त लौटाया जा सकता है परन्तु दस दिन के पश्चात न

तो वस्तु को लौटाया जा सकता है और न तो ग्रहण किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो ऐसे विक्रेताओं और क्रेताओं के ऊपर राजा दो सौ पण अर्थदण्ड लगाने का सक्षम अधिकारी होता है। इस विषय मे याज्ञवल्क्य का कथन है कि व्रीहि आदि का बीज, लौह भार ढ़ोने वाले वृषभादि पशु, रत्न, दासी, दूध देने वाले पशु, दास का क्रय करने के उपरांत परीक्षण का काल क्रमशः दस दिन, एक दिन, पांच दिन, सात दिन, एक मास, तीन दिन और तीन पक्ष होता है। इसी प्रकार के नियम का उल्लेख नारद ने भी किया है।

कौटिल्य का कथन है कि यदि विक्रय करने के पश्चात् विक्रेता क्रेता को सामान नही देता या क्रेता क्रय के उपरांत उसे नही ले जाता तब दोनो को बारह–बारह पण दण्ड दिया जाना चाहिए किन्तु यदि वस्तु दोषपूर्ण हो अथवा राजा चोर, अग्नि, जल, द्वारा नष्ट हो जाए या आदान प्रदान में न्यूनत्व को प्राप्त हुआ हो अथवा कष्ट पूर्ण स्थिति में क्रय–विक्रय हुआ हो तो दण्ड नही लगता।

14.5.2 तौल एवं माप

प्राचीन काल से ही व्यापारिक वस्तुओं के क्रय–विक्रय के माध्यम के रूप मे तौल एवं माप प्रणाली के प्रयोग का सूत्रपात हो चुका था वस्तुतः जब से वस्तु विनिमय एवं व्यापार का विकास हुआ उसी अवधि से व्यापारियों को माप एवं तौल की महत्तानुभूति होने लगी। प्रारम्भिक अवस्था में तौल के लिए पाषाण निर्मित बांट का प्रयोग किया जाता था कालांतर में आर्थिक प्रगति के परिणामस्वरूप एक सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित मापकों का व्यवस्थापन कर लोक व्यवहार में उसे प्रचालित किया गयझंमोहन जोदड़ों से उत्खनन में एक सीप का खण्डित मापदण्ड मिला है। यह 16.55 सेगी लम्बा 1.55 सेमी चौड़ा और 0.675 सेमी मोटा है और इसके मात्र एक ही भाग में चिन्ह अंकित है। उस पर समान दूरी पर नौ निशान निर्मित है, प्रत्येक दो निशानों के मध्य की दूरी 0.66 सेमी है पाँच ऐसी इकाईयो को दूसरे प्रकार की विभाजक रेखाओ से पृथककिया गया है जिसकी माप 3.3 सेमी है। इसके दशमलव प्रणाली के 33 सेमी मापदण्ड (स्केल) का खण्डित भाग होने की संभावना प्रतीत होती है। हड़प्पा से कांसे का पैमाना प्राप्त हुआ है। माधो स्वरूप वत्स ने इस पैमाने का विवरण दिया है। यह पैमाना 3.75 सेमी लम्बा है और इस पर 0.93 सेमी की विभाजन रेखाये अंकित की गई है जो 55.55 सेमी के हस्तपरिमाप पर आधारित प्रतीत होती है। इन दोनो पैमाने का 150 उत्खात भवनों के माप में प्रयोग किया गया तो संज्ञान हुआ कि ये दो प्रकार के नाप के पैमाने थे : एक हस्तमाप जिसकी लम्बाई 50.75 सेमी से 52 सेमी तक होती थी और दूसरा 'फुट' जैसा पैमाना जो 32.5 सेमी से 33 सेमी तक होता था। फिलिंडर्स प्रीट्री ने अपने अनुसंधान द्वारा यह स्पष्ट किया है कि पश्चिम एशिया में भी प्राचीन काल में 33 सेमी का माप ही प्रयुक्त होता था। एस० आर० राव को लोथल से एक हाथी दांत से निर्मित पैमाना उपलब्ध हुआ है।

वैदिक युग मे भी माप–तौल की प्रथा प्रचलित थी। व्हीलर का कथन है कि वैदिक साहित्य मे माप–तौल के अनेक विवरण प्राप्त है। वैदिक साहित्य मे तुला एवं कतिपय मापों का उल्लेख मिलता है और अन्न मापने के लिए एक विशेष प्रकार की लकड़ी के पात्र का प्रयोग किया जाता था। 55 विवेच्य काल में कृष्णल एवं शतमान तौल के दो प्रमुख मापक थे।

मौर्यकाल में माप एवं तौल पर राजकीय नियंत्रण स्थापित होने की सूचना प्राप्त होती है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मानक तुलाओं, बॉटो एवं मापों का निर्माण 'पौतवाध्यक्ष की देखरेख में होता था। वह बॉट एवं माप का परीक्षण करता था तथा उन पर राज्यचिन्ह अंकित करता था। जो व्यवसायी राज्यचिन्हांकित बॉटो का प्रयोग नहीं करता था, वह उसे दण्डित भी करने में समर्थ था। संस्थाध्यक्ष नामक अधिकारी भी बॉट के परीक्षणार्थ उत्तरदायी था। विभिन्न वस्तुओं को तौलने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार की तुलाओं का प्रयोग किया जाता था। अर्थशास्त्र में सोने की तौल के लिए दस प्रकार के तुलाओं का प्रयोग करने का विवरण है। तुला के समान बॉटो के भी अनेक भार एवं प्रकार प्रयुक्त होते थे। सोना तौलने में विभिन्न भार वाले 14 प्रकार के बॉटों का प्रयोग किया जाता था जैसे–अर्द्धमाषक, माषक, दो माषक, चार एवं आठ माषक एक सुवर्ण, दो, चार, आठ, दस, बीस, तीस, चालीस एवं सौ सुवर्ण। चांदी की तौल धरण नामक इकाई के अन्तर्गत की जाती थी। 63 हीरे के तौल की सर्वाधिक लघु इकाई 'तण्डुल' थी।

14.6 सारांश

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में श्रेणी के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त होते थे, जैसे कुल, संघ, पूग, निकाय, जाति, व्रात समुदाय, समूह, सम्भुय–समुत्थान, वर्ग, सार्थ और निगम । इस प्रकार की व्यापारिक संस्था का उदय पूर्व वैदिक युग में ही हो चुका था। संगठन की कार्य प्रणाली को संचालित करने के लिए एक कार्यालय भी होता था, जहाँ यदा–कदा सदस्य सम्मिलित होकर विचारों का आदान–प्रदान करते थे । श्रेणी संगठन आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न रहते थे, इसलिए उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के सामाजिक और धार्मिक कार्य सम्पन्न किए जाते थे, जो समाज और देश दोनों के हित में होते थे। बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्म के अनेक मन्दिर और देवताओं की प्रतिमाएँ इस सगठन के निर्देश पर निर्मित की गई। श्रेणियाँ राज्यों की भूमि की देखभाल भी करती थीं। बंगाल से प्राप्त अभिलेख में श्रेणियों को राजकीय भूमि की देखभाल करने की व्यवस्था को बताया गया है। श्रेणियों की शक्ति बढ़ने और समाज में उनका विस्तार होने पर उनकी सैन्य–व्यवस्था का स्परूप भी विकसित हुआ। महाभारत मेंभी श्रेणी बल का संदर्भ मिलता है। समय के साथ–साथ श्रेणी–संगठनों में दोष भी आ गए थे।

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. श्रेणी संगठन से आप क्या समझते हैं? विस्तार से समझाइये।

   ....

   ....

2. विभिन्न कालों में श्रेणी संगठन की कार्य प्रणाली के बारे में बताइये।

   ....

   ....

3. श्रेणी संगठनों की सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में भूमिका क्या थी? संक्षेप में वर्णन कीजिये।

   ....

14.8 संदर्भ ग्रन्थ

मिश्र, जयशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास।

श्रीवास्तव, के.सी. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति।

झा एवं श्रीमाली प्राचीन भारत का इतिहास।

प्रजापत, पप्पू सिंह प्राचीन भारत (पाषाणकाल से 1200 ई0 तक)।

जैन, के.सी. प्राचीन भारत सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं।

राय, उदय नारायण प्राचीन भारत में नगर एवं नगर जीवन।

इकाई 15 कृषि भूमि, सामन्तवाद एवं व्यापार–वाणिज्य

इकाई की रूपरेखा

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 कृषि–भूमि

15.3 सामंतवाद

15.4 व्यापार एवं वाण्ज्यि

15.5 सारांश

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.7 संदर्भ ग्रन्थ

15.0 प्रस्तावना

भू–संपत्ति, राजस्व प्रणाली और कृषि संबंध लगभग 700–1200 सी.ई. में विकसित हुए सामंतवाद के अभिन्न भाग थे। इन क्षेत्रों में लगभग 600 सी.ई. में पाई जाने वाली स्थिति की तुलना में क्रांतिकारी बदलाव हुए थे, जिससे प्रारंभिक मध्यकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों में व्यापक बदलाव आए। इस प्रकार से, हम भारतीय समाज में सहस्त्राब्दी की अपरिवर्तनशीलता की प्रचलित धारणा पर प्रश्न कर सकते हैं। इस काल में, भूमि राजनीतिक और आर्थिक दोनों रूप में प्रमुख और महत्त्वपूर्ण संसाधन बन गई। भूमि अनुदानों ने नए धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष भू–संपत्ति युक्त मध्यवर्तियों और सामंतों को जन्म दिया। सभी शक्तियाँ भूमि की ओर आकर्षित थी और उसी भू–क्षेत्र के नए स्वामी बन गए। निजी जोत सामूहिक हो गई और राजसी तथा सामुदायिक भूमि निजी संपत्ति में परिवर्तित हो गई। किसान बहुत कम अपनी भूमि के स्वामी रह गए थे और लगभग श्रमिकध्काश्तकार ही बन गए थे। कृषक अनेक वैधानिक और गैर–वैधानिक कर को भू, स्वानियों तथा राजाओं को अदा कर रहे थे, जिसमें विष्टी अथवा बंधुआ मजदूरी भी सम्मिलित थी। राज्य अपने राजस्व संसाधनों को सामंती भूस्वामियों के साथ साझा करते थे।

भूमि अनुदानों से नई भूमियों की उपलब्धता बढ़ी जो अन्यथा अप्रयुक्त थीं। यह राज्य और किसानों दोनों के लिए लाभकारी था। राज्य को नए क्षेत्रों तक पहुंच और स्थानीय राजस्व आधार के द्वारा अधिक राजस्व मिलना आरंभ हो गया। राज्य अपने आधिपत्य का राज्य के हर कोने तक विस्तार करने लगे। राजा राजनीतिक और आर्थिक रूप से, अधिक शक्तिशाली हो गए। ऐसा राजसी अनुग्रह से लाभ

प्राप्तकर्त्ताओं के निष्ठावान समूह के गठन से हुआ जिन्होंने अतिरिक्त सुविधाएँ जैसे सिंचाई के स्रोत उपलब्ध कराये। किसानों को खेती करने के लिए नई जमीनें भी मिली क्योंकि सामंती स्वामी, मंदिर और ब्राह्मण स्वयं कृषि कार्य नहीं करते थे। नई कृषि बस्तियों जैसे ब्रहमदेय, अग्रहार, मंगलम, देवदानों और धर्मनिरपेक्ष अनुदानों ने किसानों को भूमि प्राप्त करके खेती करने के पर्याप्त अवसर प्रदान किए। इससे पूरे भारत में कृषि का विस्तार हो गया। कृषक एकमात्र उत्पादक बने रहे और प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि अर्थव्यवस्था की दिशा को नियंत्रित करते थे।

15.1 उद्‌देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्‌देश्य आपको प्राचीन भारत में कृषि भूमि, सामन्तवाद एवं व्यापार–वाणिज्य से संबंधित जानकारी प्रदान करना है।

15.2 कृषि भूमि

सैद्धान्तिक रूप से प्रारम्भ में जंगल साफ करके उसे कृषि योग्य बनाने वाला ही भूमिखण्ड का स्वामी माना जाता था। किन्तु जैसे–जैसे आर्थिक प्रगति होती गई वैसे–वैसे अतिरेक उत्पादन प्राप्त करने के लिए कृषि योग्य भूमि की मांग भी बढ़ती गई जिसके फलस्वरूप 300 ई० आस–पास न केवल खेती पर अधिकार होना ही पर्याप्त समझा गया बल्कि अधिकार–पत्र होना भी आवश्यक माना गया।

जहाँ मनु ने भूमि के स्वामी को भूमि अपनी इच्छानुसार बेचने, दान देने या गिरवी रखने की अनुमति प्रदान की है', वहीं याज्ञवल्क्य (100ई0 – 300ई0) और नारद (100ई0 – 400ई0) जैसे व्यवस्थाकारों द्वारा मनु से इतर भूमि–अधिकार–पत्र की बात की गई है। याज्ञवल्क्य स्मृति में स्पष्ट लिखा है कि भूमि पर स्वामित्व होने के लिए अधिकार (भोग) और अधिकार–पत्र (आगम) दोनों होना आवश्यक है। नारद का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति बिना अधिकार–पत्र के किसी सम्पति पर सौ वर्ष तक भी अधिकार जमाये रखे तो वह चोर है। परन्तु व्यवहारिक रूप उन्होंने 30 वर्ष तक किसी भूखण्ड पर अधिकार रखने वाले व्यक्ति को उसका स्वामी माना है।'' स्पष्ट है कि कृषि भूमि पर स्वामित्व व राज्य का अधिकार दो अलग–अलग बातें थीं। व्यक्तिगत स्वामित्व की धारणा के प्रबल होते हुए भी राज्य के स्वामित्व की धारणा को आलोच्यकाल में नकारा नहीं जा सकता था। मनु ने भी अपने विचारों में राज्य को भूमि का अधिपति मानते हुए उसे भूमि का स्वामी माना है। इसी प्रकार मिलिन्दपन्हों में भी पृथ्वी पर स्थित सभी शहरों, समुद्रतटों, खानों आदि पर राजा के स्वामित्व को मान्यता दी गयी है। मनु के अनुसार ''भूमि के नीचे दबे खजाने और खानों से प्राप्त वस्तुओं में राजा का एक भाग होता है।'' इससे प्रमाणित होता है कि शासक का भू–राजस्व ग्रहण करने तथा सुव्यवस्था स्थापित करने के कारण भूमि पर आंशिक स्वामित्व था। भू–स्वामित्व के संदर्भ में व्यवस्थाकारों के मत में भी हमें अन्तर्द्वन्द दिखाई पड़ता है। पूर्व मध्यकाल के टीकाकारों का मत था कि स्वामित्व

का अर्थ है कि स्वामी उस वस्तु को अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सके। इस कसौटी पर भूमिखंडों पर व्यक्ति विशेष का स्वामित्व मानने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। किन्तु के.पी. जायसवाल पूर्ण रूप से व्यक्ति विशेष को ही भूमि का स्वामी मानने के पक्ष में थे। उनके इस मत का यू.यन. घोषाल और ए.एल. बाशम ने तर्क देकर विरोध किया है। प्राचीन भारत मेंविधिवेत्ता भूमि के स्वामित्व के विषय में स्पष्टतः एक मत नहीं थे। कुछ व्यक्ति विशेष को और कुछ राजा को स्वामी मानते थे। वास्तविकता यह थी कि व्यक्ति विशेष भूमिखण्ड का स्वामी तो था किन्तु अधिपति के रूप में उसे बिक्री करने या दान देने के लिए राजा और ग्रामवृद्धों की अनुमति लेनी पड़ती थी। जहाँ तक भूमिदान का प्रश्न है ऋग्वेद में इसका कोई उल्लेख नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में भूमिदान का निषेध किया गया है।'' किन्तु बौद्ध एवं मौर्य काल में भूमिदान में दी जाने लगी थी। महाभारत में भूमि दान की प्रशंसा की गई हैं। गुप्तकाल में भूमिदान का प्रचलन बहुत बढ़ गया था। भूमिदान मुख्य रूप से ब्राह्मणों, मन्दिरों, विहारों को दिया जाता था। किन्तु धीरे–धीरे अधिकारियों, रानियों, राजकुमारों तथा जागीरदारों को भी भूमि दान में मिलने लगी।

भूमिदान सम्बन्धी प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य प्रथम सदी ई०पू० का है जिसके अनुसार सातवाहनों ने महाराष्ट्र में अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर पुरोहितों को उपहार स्वरूप एक गांव दान में दिया। उषावदात द्वारा कार्ले में 16 गांव दान देने का उल्लेख है। प्रशासनिक अधिकारों के छोड़ने (कर मुक्ति) का प्रमाण भी सबसे पहले गौतमीपुत्र शातकर्णि के अभिलेखों से प्राप्त होता है। फिर भी उत्तर भारत के विशाल भू–भाग पर शासन करने वाले शकों तथा कुषाण शासकों के भूमि अनुदान के प्रमाण नहीं मिलते। अभी तक मात्र एक प्रमाण मिला है जो द्वितीय शताब्दी ई0 का है जिसमें यज्ञ में पुरोहिती करने वाले ब्राह्मण को एक गांव दान में देने का उल्लेख है जो इलाहाबाद के पास कहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणों में भूधारण अधिकार की अक्षयनीवीय प्रणाली भू–राजस्व के स्थायी दान से प्रारम्भ हुई जिसका प्रमाण गुप्त युग में आकर उत्तरी बंगाल के अभिलेखों से प्राप्त होता है।

गाँव भी दान में दिये जाते थे, किन्तु जहाँ भूमि पर ग्रहीता का स्वामित्व हो जाता था, गाँव से वह केवल राजस्व ले सकता था। जुन्नार के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अनेक खेतों के स्वामियों ने अपने खेतों को इसलिए दान में दिया था कि उसकी आय पुण्य कार्यों में लगाई जा सके। कुछ निगम भी खेत के स्वामी होते थे। अक्षयनीवि (endowment) के रूप में दान में दिए जाने वाले गांवों को दान में प्राप्त करने वाला व्यक्ति न तो गिरवी रख सकता था और न बेच सकता था। राजा को समस्त भूमि का स्वामी माना जाता था। जब कोई खेत खरीदकर भूमिखण्ड अनुदान में दिया जाता था तो इसकी सूचना गाँव के मुखिया, ब्राह्मणों, प्रतिष्ठित व्यक्तियों, सरकारी अधिकारियों आदि को दी जाती थी जिससे कि उस भूमि अनुदान से किसी व्यक्ति के साथ अन्याय न हो। राजा तभी किसी भूमि–खण्ड

को दान में दे सकता था जब उस पर उसका निजी स्वामित्व हो, अन्यथा भूमिखण्ड के स्वामी से स्वामित्व प्राप्त करके ही (क्रय करके) दान दे सकता था।नासिक के एक अभिलेख में उल्लेख मिलता है उषवदात ने एक बौद्ध बिहार को दान में देने के लिए एक ब्राह्मण से 40,000 कार्षापण में एक भू–क्षेत्र खरीदा था। 18 कभी–कभी भूमिखण्ड बौद्ध और जैन संघों को भी अनुदान में दिया जाता था जिनके प्रशासकों के बदलते रहने के कारण उनके अधिकार–पत्र ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे। भूमि अनुदानों का सरकारी कार्यालयों में पंजीकरण भी कराया जाता था सम्भवतः उसके पीछे का उद्देश्य सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना था।

चोल साम्राज्य में मन्दिरों को दी जाने वाली भूमि 'देवदान' 'देवाग्रहार' या 'देवभोग' कहलाती थी। मठो को दी गई भूमि 'मडप्पुर' और ब्राह्मण को दान दी गई भूमि 'ब्रह्मदेय' कहलाती। ब्राह्मण समुदाय को दी गई भूमि 'अग्रहार' या 'गणभोग्य' कही जाती। इसके अतिरिक्त सामुदायिक या पंचायती भूमि भी होती थी जिनकी आय से ग्रामसभा द्वारा सिचाई की व्यवस्था और मन्दिर के सेवाकार्य की व्यवस्था की जाती थी। सामूहिक प्रयास से सिंचित भूमि पर या तो राज्य द्वारा लगान कम कर दी जाती थी अथवा बदले में राज्य द्वारा भूमि उपहारस्वरूप प्रदान की जाती थी।

15.3 सामन्तवाद

प्राचीन भारतीय सभ्यता–संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता सामन्तवादी व्यवस्था है। भारत का राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन इससे काफी प्रभावित था। सामन्तवाद की परिभाषा विद्वानों ने विभिन्न तरह से दी है। विशप स्टब्स (Bishop Stubes) के शब्दों में, "भूमि के स्वामित्व के माध्यम से सामन्तवाद समाज का एक पूर्ण संगठन है जिसमें राजा से लेकर भूमिपतियों तक सारे लोग सेवा–संरक्षण की शर्तों से एक–दूसरे से बंधे हैं।'' मेयर (डलमत) के शब्दों में, ''सामन्तवाद समाज और सरकार का एक विशेष रूप था जो भू–धृति पर आधारित था।'' सामन्तवाद में तीन मुख्य बातें थीं–भूमि, संरक्षण और सम्प्रभुता। इसमें भूमि का हस्तांतरण होता था। भूमि देने वाले और लेने वाले के बीच सेवा और रक्षा के आधार पर व्यक्तिगत सम्बन्ध होता था तथा देने वाले को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में लेने वाले पर सम्प्रभुता का अधिकार प्राप्त होता था।

मौर्यत्तर काल विशेषकर गुप्तकाल में कुछ राजनीतिक तथा प्रशासनिक तत्वों ने सामंतवाद को जन्म दिया। इस काल में ब्राह्मणों को भूमिदान दिया जाने लगा। धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में ब्राह्मण को भूमिदान देने की अनुशंसा है। महाभारत के अनुशासन पर्व में भूमिदान प्रशंसा पर पूरा एक अध्याय है। पूर्व मौर्यमालीन पालि ग्रन्थों में कोशल तथा मगध नरेशों द्वारा ब्राह्मणों को ग्रामदान देने का उल्लेख है। ई० पू० पहली शताब्दी के एक सातवाहन अभिलेख में अश्वमेध यज्ञ के उपहार

स्वरूप एक ग्रामदान का उल्लेख है। किन्तु, इसके साथ दाता (कवदमत) का दान दी गई भूमि से प्रशासकीय अधिकार समाप्त नहीं होता था। सर्वप्रथम सात–वाहन नरेश गौतमीपुत्र सातकीर्ण ने 200 ई० में कुछ बौद्ध भिक्षुओं को भूमिदान देकर उसने अपने प्रशासकीय अधिकार भी त्याग दिये। दान में प्रदत्त भूमि में शाही सेना प्रवेश नहीं कर सकती थी तथा सरकारी अधिकारी या स्थानीय पुलिस कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। अतः ऐसे दान की दो विशेषताएँ थीं भू–राजस्व के सभी स्रोतों का हस्तांतरण तथा पुलिस एवं प्रशासकीय कार्यों का समर्पण। गुप्त–काल में इन विशेषताओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। दाता और आदाता (कवदमम) के बीच भूमि कड़ी का काम करने लगी। ब्राह्मणों को ग्राम दान में दिया जाने लगा। वे वहाँ के शासक बन गए। सरकारी अधिकारियों या सर्वाध्यक्षों को वहाँ किसी भी तरह हस्तक्षेप नहीं करने के आदेश दिए गए। 5 वीं शताब्दी के अभिलेखों से पता चलता है कि आदाता को अपने क्षेत्र में सभी तरह के प्रशासकीय अधिकार भी दिए गए। मध्य और पश्चिमी भारत में कुछ शाही दाताओं ने दान में प्रदत्त गाँवों में आदाताओं को न्यायिक अधिकार भी दिए उनके दानों में 'अभ्यन्तरासिद्धी' शब्द प्रयुक्त है। उत्तर भारत के दानों में इसके लिए 'सदंड दसापराध' शब्द प्रयुक्त है।

राज्य के सप्तांग सिद्धांत में कोष और सेना को प्रधान अंग माना गया है। इनके त्याग से राज्य का विघटन हो जाता है। सामन्तवाद में ऐसा ही हुआ। राजा जागीरदार को स्थायी तौर से जागीर देने लगा। इससे राज्य का विघटन शुरू हो गया और अनेक छोटी–छोटी जागीरों में विभक्त हो गया। यह प्रक्रिया मौर्यों के पूर्व ही शुरू हो गई थी। कौटिल्य ने ब्रह्मदेव धृति के अनुसार नई बस्तियों में भूमि–दान की संस्तुति की है। गुप्त–काल में ब्राह्मण जमींदारों का उदय हुआ। वे स्वतंत्र शासक की भाँति आचरण करने लगे। दाताओं के चाहे जो भी इरादे रहे हों, किन्तु इन अनुदानों के फलस्वरूप शक्तिशाली बिचौलियों (intermadiaries) का जन्म हुआ जिन्हें काफी आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मण जमींदारों की संख्या बढ़ती गई। इनमें से कुछ पुरोहित का काम छोड़कर जमींदारी की देखभाल करने लगे। मौर्य–काल की केन्द्रीकरण की भावना ने गुप्त–काल में विकेन्द्रीकरण को जन्म दिया। करों की वसूली, बेगार श्रम का उपयोग, खदानों का विनियमन, कृ षि आदि पहले जो काम सरकारी कर्मचारियों द्वारा किए जाते थे, वे अब ब्राह्मण जमींदारों तथा बाद में क्षत्रियों व राजपूत जमींदारों द्वारा किए जाने लगे।

गुप्त–काल में सामन्तीकरण. (infeudation) की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हुई थी। आदाताओं को जो जागीर दी जाती थी, वह उनके उपयोग के लिए दी जाती थी। वे उसका हस्तान्तरण नहीं कर सकते थे। ब्राह्मणों को जो भूमि दान में दी जाती थी, इसके बदले उन्हें दाताओं तथा उनके पितरों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए धार्मिक कर्मकांड करने पड़ते थे। केवल वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय के चमक में प्राप्त ताम्र अभिलेख से पता चलता है कि ब्राह्मणों को कुछ ऐहिक कर्तव्यों

का पालन भी करना पड़ता था। इसमें कहा गया है कि वे राजा या राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र नहीं करेंगे, युद्ध नहीं करेंगे, आदि। ये ब्राह्मण जागीरदार अपने–अपने क्षेत्रों में कानून–व्यवस्था बनाए रखते थे तथा लोगों से वर्णाश्रम धर्म का पालन करवाते थे।

मौर्यकाल में सैनिक और असैनिक अधिकारियों को उनकी सेवा के बदले नकद वेतन मिलता था। ये अधिकारी पाँचग्रामी, दसग्रामी, गोप, स्थानिक और समाहर्ता थे। समाहर्ता को नकद वेतन दिया जाता था, किन्तु नई बस्तियों में गोप और स्थानिक को जागीर दी जा सकती थी। उच्चतम वेतन प्रतिमाह 4,800 पण और न्यूनतम 60 पण था। मनुस्मृति में जागीर देने की अनुशंसा है। पाल अभिलेखों में ग्रामपति (ग्राम का मुखिया), दसग्रामपति (दस गाँवों का मुखिया) आदि वित्त अधिकारियों का उल्लेख है। ये कर वसूल करते थे। इसकी पुष्टि चीनी पर्यटक फाहियान के वृत्तान्त से हो जाती है। वह लिखता है, ''सरकार उदार है, सरकारी अधिकारियों की आवश्यकता कम है तथा परिवारों का पंजीकरण नहीं होता है।'' इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि सरकार लोगों से कर वसूल करने का काम स्वयं नहीं करती थी। इसके लिए बिचौलिये थे। राज्य के सामन्तीकरण का यह एक उदाहरण माना जा सकता है।

गुप्तोत्तर काल में अधिकारियों को नकद वेतन की जगह जागीर दी जाने लगी। 7वीं सदी में चीनी तीर्थयात्री ह्वेनसांग भारत आया था। उसने लिखा है कि गवर्नरों, मंत्रियों तथा अधिकारियों को नकद के बदले जागीर दी जाती थी। इन उच्च अधिकारियों में प्रमात, राज– स्थानीय, उपरिक और विषयपति थे। इस प्रकार, हर्ष के काल में न केवल ब्राह्मणों तथा विद्वानों, अपितु उच्चाधिकारियों को भी जागीरें दी जाती थीं। इसकी पुष्टि इस काल में सिक्कों की दुर्लभता से हो जाती है। मुंशी व दवीर को धार्मिक उद्देश्यों के लिए जो ग्राम दिया जाता था, उसे अग्रहार कहते थे। वहाँ के निवासियों को उसे भाग, भोग, कर व हिरण्य देने के लिए कहा जाता था। ये मुंशी लोगों से मनमाना कर वसूलते और अपनी जेब भरते थे। लगभग 507 ई०में वर्द्धमान भुक्ति (प्रांत) का शासक विजयसेन था जो महाराजाधिराज श्रीगोपचन्द्र का सामंत था। उसे भोगपतिक भी कहा गया है जो सम्भवतः एक जागीरदार था। कुछ भोगपति ग्रामीणों को सताते थे । हर्षचरित में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। हर्ष के समय एक अन्य सामंत अधिकारी महाभोगी था। इसकी पुष्टि उड़ीसा के शिलालेख से होती है। सर्वप्रथम गुप्तकाल में यह सामंती विचार सामने आया कि भू–स्वामी का वास्तविक उपभोक्ता होता है। कालान्तर में अमात्य, कुमारामात्य सामंती पदवियाँ बन गईं। किन्तु गुप्तकालीन उपरिक, कुमारामात्य एवं विषयपति को हम स्वतंत्र सामंत नहीं कह सकते। 6ठी शताब्दी के मध्य से कुमारामात्य स्वतंत्र सामंत की तरह व्यवहार करने लगा। 7वीं सदी के बाद अधिकारियों को आलंकारिक सामंती पदवियों से विभूषित किया जाने लगा।

उदाहरणस्वरूप भास्करवर्मन के कोषाध्यक्ष (भांडागाराधिकृत) दिवाकर प्रभा को महासामंत की उपाधि दी गई। हर्षर्द्धन के अधिकारी भी महासामंत कहलाते थे।

यह उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल के राजा द्वारा नियुक्त गाँव के मुखिया सहसामंती अधिकारी की तरह थे। इन्हें ग्रामाधिपति आयुक्त कहते थे। वे लोगों से अपने लाभ के लिए बेगार भी लेते थे। गुप्तकाल में एक नए ढंग के गाँव का उदय हुआ जहाँ राजसी कृपापात्र रहते थे। पुराणों में कहा गया है कि ऐसे गाँवों में दुष्ट और शक्तिशाली लोग रहते थे जिनकी अपनी जमीन–जायदाद नहीं थी, बल्कि दूसरे की जमीन–जायदाद पर गुजर–बसर करते थे। इन राजसी कृपापात्रों को बिचौलियों की संज्ञा दी जा सकती है जो सामंतवाद के राजनीतिक विकास में सहायक साबित हुए।

5वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में 'सामन्त' शब्द का व्यवहार जागीरदार के लिए होता था। पल्लव–नरेश शांतिवर्मन (455–70) के एक अभिलेख में 'सामन्त चूड़ामणि' (जैम इमेज ्उवदह मिनकंजंतपमे) शब्द का व्यवहार किया गया है। उसी शताब्दी के अंत में दक्षिणी और पश्चिमी भारत में इसका उपयोग सामन्त के लिए किया गया है। बारबारा गुफा (गया) अभिलेख में मौखरी अनन्तवर्मन के पिता को भी 'सामंत चूड़ामणि' कहा गया है। यह अभिलेख 500 ई० का है। इस समय मौखरी गुप्त सम्राटों के सामन्त थे। मन्दसोर शिलालेख से पता चलता है कि यशोधर्मन (525–35) ने सम्पूर्ण उत्तर भारत के सामंतों को अपने अधीन कर लिया था। 6ठी शताब्दी में वल्लभी के शासकों की उपाधियाँ सामंत–महाराजा तथा महासामंत की थीं। बाद में 'सामंत' शब्द का प्रयोग राजकीय अधिकारियों के लिए भी किया जाने लगा । हर्ष– वर्द्धन के भूमिदानों में सामंत–महाराजा एवं महासामन्त पदवियों का व्यवहार किया जाने लगा । समुद्रगुप्त के जागीरदारों के लिए 'सामन्त' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है। प्रयाग प्रशस्ति में उनके कर्तव्यों का उल्लेख है। पराजित राजाओं को राजमहल में सेवा के लिए कन्याओं का उपहार (कन्योपायन), दान, सभी तरह के कर आदि देने पड़ते थे। वाणभट्ट ने हर्षचरित में सामंत के कर्तव्यों का उल्लेख किया है। सामंत द्वारा शासित प्रदेश से सम्राट सामंतों से, न कि प्रजा से कर लेता था। यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता कि जागीरदार को कर–वृद्धि या कोई नया कर लगाने का अधिकार था या नहीं। किन्तु, वे अपनी जागीर के राज– कीय करों के लिए उत्तरदायी थे। सामंतों के विहित कर्तव्यों में वार्षिक कर का भुगतान, स्वयं राजा के पास जाकर श्रद्धांजलि प्रकट करना, पंखा झलना, साष्टांग प्रणाम करना, द्वारपाल का काम करना, राजा का यशोगान करना आदि थे। हर्ष के दरबार में पराजित शत्नु सामंतों का बड़ा अपमान होता था। वे तब तक दाढ़ी बनाए रखते थे जब तक कि उसके भाग्य का कोई निर्णय नहीं कर दिया जाता था। वे राजा को सर्वदा हाथ जोड़कर प्रणाम करने को उत्सुक रहते थे।शांतिकाल में सामंतों के प्रशासनिक व न्यायिक कार्यों का उल्लेख धर्मशास्त्रों

तथा हर्ष—चरित में नहीं है। कुछ सामंत अपने अधिपति की पूर्वानुमति से भी धार्मिक अनुदान करते थे। दरबारी सामंत कुछ सामाजिक कर्तव्यों का भी पालन करते थे। वे मनोरंजन के साधनों, यथा— छूत, पाशा, वंशीवादन, राजा की तस्वीर बनाने, पहेलियों को सुलझाने आदि का काम करते थे। साथ ही विशेष उत्सवों में सामंतों की पत्नियाँ भी दरबार में आती थीं। इस प्रकार, सामंत सैनिक एवं प्रशासनिक ही नहीं, अपितु सामाजिक रूप से भी अपने अधिपति से बँधे हुए थे।

वाण ने सामन्त, महासामन्त, आप्रसामन्त, प्रधान सामन्त, शत्रु महासामन्त एवं प्रति— सामन्त का उल्लेख किया है। महासामन्त सामन्त से बड़ा होता था। विजित सामन्तों को शलु सामन्त कहते थे। आप्रसामन्त वे थे जो स्वेच्छा से अपने अधिपति का प्रभुत्व स्वीकार कर लेते थे। प्रधान सामन्त राजा के अति विश्वसनीय सामन्त होते थे । प्रतिसामन्त सम्भवतः राजा का विरोधी होता था। राजकुमार भी तीन श्रेणियों में बँटे हुए थे — शत्रु महासामंत, महीपाल एवं अनुरक्त महासामन्त। इन राजाओं तथा सामन्तों का एक प्रमुख कर्तव्य अपने अधिपति की सैनिक सहायता करना था। वे सैनिक अभियानों तथा युद्धभूमि में सेना भेजते थे।

मौर्यों के पूर्व अश्व और हस्ति पर राजा का एकाधिकार होता था। मौर्यकाल में उनका यह एकाधिकार बना रहा। किन्तु मौर्येतर काल में स्थिति बदल गई। अब आम लोग भी इसे रखने लगे। इससे केन्द्रीय सत्ता का ह्रास होने लगा। गुप्तकाल में घोड़े तथा हाथी रखने वाले स्थानीय सरदार स्थानीय लोगों के स्वाभाविक रक्षक समझे जाने लगे। पहले यह काम राज्य के अधिकारी द्वारा सम्पन्न होता था। हाथियों की संख्या के आधार पर सरदारों तथा राजकुमारों की स्थिति का निर्धारण होता था। 727 ई० के एक चीनी वृत्तांत के अनुसार — मध्य भारत के एक राजा के पास 900 तथा बड़े—बड़े सरदारों के पास 200 से 300 हाथी थे।

स्थानीय शक्तिशाली सरदारों के उदय से केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ने लगी। ये स्थानीय सरदार राजा का विरोध करते तथा कर वसूली में व्यवधान उपस्थित करते थे। नारद कहता है कि इन्हें 'फूट डालो और शासन करो' नीति द्वारा अर्थात् एक सरदार को दूसरे से लड़ाकर उन पर अंकुश डाला जा सकता है। नारद की इस उक्ति से प्रतीत होता है कि शक्तिशाली स्थानीय सरदार केन्द्रीय सत्ता को कमजोर कर रहे थे।

सामन्तवाद के उदय में आर्थिक तत्वों का भी हाथ रहा है। इस सम्बन्ध में हमें यहाँ देखना है कि जो भूमि ब्राह्मणों या मंदिरों को दान में दी जाती थी, उसमें खेती की जाती थी या नहीं। क्या खेती करने वाले वे थे जिन्हें जमीन दान में दी गई थी या वे अस्थायी कृषकों से खेती करवा लेते 130 ई0 के दक्षिण भारत के एक सातवाहन अभिलेख से पता चलता है कि कुछ बौद्ध भिक्षुओं को दान में दी गई भूमि पर खेती नहीं होती थी तो उस गाँव की बंदोबस्ती नहीं की गई थी। इससे

यह स्पष्ट है कि दूसरी शताब्दी से जो गाँव दान में दिए जाते थे, वहाँ खेती–योग्य भूमि होती थी। गुप्तकालीन भूमिदानों में खिल (khila) और अपर्हत (aparhat) शब्दों का अर्थ यह लगाया गया है कि ब्राह्मणों को बंजर भूमि दान में दी जाती थी। किन्तु सभी मामलों में यह व्याख्या उपयुक्त नहीं लगती। नारद की विधान संहिता में 'खिल' का अर्थ उस जमीन से है जिस पर तीन वर्षों से खेती नहीं की गई है। कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि 'भूमि छिद्रायान' (विससवू संदक) या परती भूमि का दान सिचाई सुविधाओं के साथ कियाजाता था ।

15.4 व्यापार एवं वाणिज्य

किसी भी सभ्यता का मेरूदण्ड उसका आर्थिक ढांचा होता है। इस दृष्टि से भारत प्राचीन काल में अत्यधिक सम्पन्न था। वास्तव में भारतीय समाज का आर्थिक विकास 'पुरूषार्थ' के जीवन दर्शन के माध्यम से हुआ है जिसमें अर्थ भी एक प्रधान तत्त्व माना गया है। प्रायः व्यक्ति की मनःकांक्षा अनेकानेक वस्तुएँ प्राप्त करने की होती है, जो अर्थ के सहयोग से ही पूर्णता को प्राप्त करती है। इसीलिए हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने पुरूषार्थ के अन्तर्गत अर्थ की नियोजना की। अतः अर्थ मनुष्य को भौतिक और लौकिक सुख प्रदान करने वाला विशिष्ट तत्व माना गया है। महाभारत में इसे उच्चतम धर्म मानकर इसकी प्रतिष्ठा और महत्ता स्वीकार की गई है। कौटिल्य और बृहस्पति जैसे अनेक भारतीय शास्त्रकारों ने भी मनुष्य के जीवन में अर्थ की आवश्यकता और महत्ता प्रतिपादित की है तथा इसे संसार का मूल माना है।

प्राचीन भारत में अर्थ अथवा धन के उपार्जन से सम्बन्धित विषय के लिए 'वार्ता' शब्द का व्यवहार किया जाता था। अतः वार्ता शब्द मनुष्य के आर्थिक जीवन के कार्यकलापों से सम्बन्धित था। कौटिल्य ने वार्ता की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वार्ता के विषय थे। महाभारत के अनुसार वार्ता से संसार का पोषण होता है, इसलिए वह लोक का मूल है। मनु ने भी वार्ता के महत्त्व को स्वीकार किया है तथा व्यावहारिक और लोक ज्ञान के लिए उसे अनिवार्य माना है। रामायण में तो उसे लोक में सुख प्राप्ति का साधन माना गया है। लेकिन यह भी सत्य है कि प्राचीन भारत में आर्थिक पक्ष का अत्यधिक महत्त्व होते हुए भी इस विषय पर इतने अधिक ग्रन्थ नहीं लिखे गए जितने कि धार्मिक पक्ष पर। इसकाप्रमुख कारण यह है कि भारत एक धर्म प्रधान देश रहा है जिसमें धर्म का अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया। इस कारण इस विषय सम्बन्धित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। लेकिन फिर भी हमारे पास इतने साधनहैं कि सबको मिलाकर प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास का सही रूप सामने रखा जा सकता है।

भारतीय व्यापार की जानकारी हमें सर्वप्रथम सिन्धु संस्कृति के माध्यम से

होती है। यहाँ से प्राप्त भग्नावशेषों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा से लगभग 2500 वर्ष पूर्व व्यापार उन्नत दशा में था और यहाँ के लोग जहाजरानी के प्रयोग से भलीभांति परिचित थे। यद्यपि सिन्धु संस्कृति के किसी भी स्थल से नाव के अवशेष नहीं मिले हैं लेकिन विभिन्न वस्तुओं पर बने जहाजों के चित्र इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि ये लोग जहाजरानी के क्षेत्र में भी काफी आगे बढ़े हुए थे। इसी प्रकार लोथल से प्राप्त गोदीबाड़ा ने भी इस दिशा में हमारा सफल मार्गदर्शन किया है जो एक नहर द्वारा काम्बे की खाड़ी से जुड़ा हुआ था। मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा से प्राप्त वस्तुओं से पता चलता है कि यह व्यापार स्थानिक न होकर दूर तक फैला हुआ था। इसका प्रमाण यहाँ के उत्खनन से कुछ ऐसी वस्तुओं का मिलना है जो स्थानीय कृति नहीं हैं, जिन्हें स्पष्ट रूप से बाहर से मंगाया गया था। लेकिन इनके बदले में यहाँ के लोग किन वस्तुओं का निर्यात करते थे, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहींकहा जा सकता, क्योंकि इसके लिए हमें पूर्ण रूप से पुरातात्विक सामग्री पर ही निर्भर रहना पड़ता है और पुरातत्व से भी हमें नष्ट न होने वाली वस्तुओं का ही पता चलता है। फिर भी हमें अनेक ऐसी वस्तुएं मिली हैं, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ से विदेशों को भेजी जाने वाली वस्तुओं में हाथीदांत का सामान, कपास एवं उससे बनी वस्तुएं, सीप, सेलखडी की मुद्राएं, अनेक प्रकार के मिट्टी के पात्र, लकड़ी का सामान, मनके तथा चर्ट के धनात्मक बाट मुख्य थे।

सिन्धु सभ्यता के पतन के पश्चात् पंजाब तथा सिन्धु के क्षेत्र में एक नई सभ्यता विकसित हुई, जिसे वैदिक सभ्यता के नाम से जाना जाता है। इसकी जानकारी के लिए हमें पूर्ण रूप से वैदिक साहित्य पर ही निर्भर रहना पड़ता है। यद्यपि इनके माध्यम से हमें इस समय के व्यापार की विशेष जानकारी तो नहीं मिलती, किन्तु इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि इस काल में आर्यो ने जंगली रास्तों और पगडंडियों को छोड़कर, जो देश के एक भाग को दूसरे भाग से मिलाते थे, महापथों की कल्पना की। ऋग्वेद में हम 'प्रपथ' अर्थात बड़े मार्गों और अथर्ववेद में 'परिरथ्या' अर्थात् ऐसे मार्ग जिन पर रथ चल सके का वर्णन पाते हैं। परवर्ती वैदिक साहित्य से भी हमें पता चलता है कि बड़े ग्राममहापथों से जुड़े हुए थे और ये लोग समुद्री मार्गों से भी भलीभांति परिचित थे । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस काल में भारत का आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार धीरे–धीरे प्रगति की ओर बढ़ रहा था।

बौद्ध काल में आकर व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति हुई। लोहे के उपकरणों का व्यापक पैमाने पर उत्पादन शुरू हो जाने से कृषि के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई, जिससे ज्यादा से ज्यादा उत्पादन हुआ और शहरीकरण का दूसरा दौर शुरू हुआ। इस काल में देश में मार्गों का जाल सा बिछ गया और

देश के सभी प्रमुख व्यापारिक नगर मार्गों से जुड़ गए। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग उत्तरापथ था जो पुरूषपुर (पेशावर) से प्रारम्भ होकर पाटलिपुत्र तक जाता था । यूनानी यात्रियों ने भी उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त से पाटलिपुत्र तक जाने वाले इस मार्ग का वर्णन किया है। इस पर रास्ते में बाहलीक, कपिशा, पुष्कलावती, मशकावती, उद्भाण्डपुर, तक्षशिला, शाकल, हस्तिनापुर, मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी और पाटलिपुत्र पड़ते थे। पाटलिपुत्र से आगे यह मार्ग ताम्रलिप्ति तक चला जाता था। वास्तव में यह उस समय की ग्रांड ट्रंक रोड थी। बौद्ध ग्रंथों से समुद्रयात्रा के बारे में अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं कि व्यापारी किस प्रकार अनेक कष्टों का सामना करते हुए विदेशों में व्यापार के लिए जाया करते थे। जातकों के माध्यम से पता चलता है कि इस काल में भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर भरूकच्छ, सुर्पारक और सौवीर तथा पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति और कावेरीपट्टनम मख्य बन्दरगाह थे। जातकों से दस बात का तो ठीक–ठीक पता नहीं चलताकि देश में किन–किन वस्तुओं का आयात और निर्यात किया जाता था परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि व्यापार में कपड़ों का मुख्य स्थान था। इसके अतिरिक्त मसाले, समुद्र तथा पर्वतों से प्राप्त अलभ्य वस्तुएं, चन्दन की लकड़ी और हाथीदांत का सामान आदि का भी निर्यात किया जाता था।

मौर्यकालीन व्यापार और वाणिज्य के बारे में विस्तृत जानकारी हमें कौटिल्य अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज की इण्डिका से होती है। कौटिल्य के अनुसार इस काल में व्यापार पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण था। व्यापार की देखभाल के लिए राज्य की ओर से एक अधिकारी नियुक्त किया जाता था, जिसे 'पण्याध्यक्ष' कहते थे। वह वाणिज्य सम्बन्धी नीतियों और व्यवस्थाओं का पूर्ण ज्ञाता होता था। व्यापार की व्यवस्था के सम्बन्ध में उसके अधिकार विस्तृत और व्यापक होते थे। वह जल और स्थलपथ से आने वाली सभी वस्तुओं में तारतम्य रखता था औरइस काल की सबसे बड़ी विशेषता भारत और पश्चिमी देशों के बीच व्यापार में तीव्र प्रगति थी। मौयों के समय में आन्तरिक आवागमन की जो सुविधा विकसित हुई थी, उससे इस काल के व्यापार को सुदृढ़ रूप प्राप्त हुआ। मार्गों के बन जाने से देश के किसी भी भाग में आना–जाना सम्भव हो गया जिससे आन्तरिक व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। पहली सदी ई.में मानसून हवाओं की सहायता से अल्प समय में ही हिन्द महासागर को पार करने के हिप्पालस के आविष्कार से तथा रोमन जगत में भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ जाने से इस समय न केवल पश्चिमी जगत के साथ भारत के व्यापार में अभूतपूर्व उन्नति हुई, अपितु रोमन साम्राज्य की माँग पूरी करने के लिए भारतीय व्यापारियों ने दक्षिण–पूर्वी एशिया तथा चीन के साथ भी अपने व्यापार को बहुत बढ़ावा दिया। इस समय भारत चीन के रेशम व्यापार में बिचौलिए का काम करता था। वह चीन से रेशम खरीदकर उसका रोम को निर्यात करता था जिससे इस पारगमन व्यापार में भारतीय व्यापारियों को बहुत लाभ पहुँचा। ये लोग दक्षिण–पूर्वी

एशिया से मसालें खरीदकर भी उसका रोम को निर्यात करते थे। इसके अतिरिक्त इस समय की व्यापारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत में भी कृषि एवं विभिन्न उद्योग–धन्धों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप दूसरे देशों के सोने का प्रवाह भारत की ओर बहने लगा और भारत में अभूतपूर्व समृद्धि का श्रीगणेश हुआ। इस समय भारत को व्यापार में वैसी ही समृद्धि प्राप्त हुई, जैसी समृद्धि यूरोपियन देशों को 16वीं शताब्दी में पूर्वी देशों के साथ व्यापार में हुई थी। इस समय की समृद्धि का वर्णन हमें तत्कालीन संस्कृत, पालि एवं तमिल ग्रन्थों से मिलता है। सातवाहन मुद्राओं पर नौ–पोतों के चित्र भी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि तत्कालीन समय में समुद्री व्यापार अपने उत्कर्ष था। इस काल में भारत के समुद्री तटों पर विदेशियों की अनेक बस्तियां भी स्थापित की गयी थी, जिसमें बड़ी संख्या में विदेशी व्यापारी निवास करते थे। मिश्र, रोम तथा यूनान आदिदेशों को विभिन्न प्रकार के सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्र, मलमल, मसाले, कालीमिर्च, अगरू, जटामांसी, मजीष्ठ, शंख, सुपारी, चन्दन, सुगन्धित पदार्थ, मोती, पशु–पक्षी तथा प्रसाधन सामग्री आदि का निर्यात किया जाता था। यूनानी लेखक प्लिनी के अनुसार भारतीय व्यापारी प्रतिवर्ष रोम से कम से कम साढे पाँच करोड़ सेंस्टर प्राप्त करते थे। वास्तव में इस काल में भारत का विदेशी व्यापार अपनी उन्नति के चरम उत्कर्ष पर पहुँचा गया था।

15.5 सारांश

भू–संपत्ति, राजस्व प्रणाली और कृषि संबंध लगभग 700–1200 सी.ई. में विकसित हुए सामंतवाद के अभिन्न भाग थे। इन क्षेत्रों में लगभग 600 सी.ई. में पाई जाने वाली स्थिति की तुलना में क्रांतिकारी बदलाव हुए थे, जिससे प्रारंभिक मध्यकालीन भारत की सामाजिक. आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों में व्यापक बदलाव आए। इस प्रकार से, हम भारतीय समाज में सहस्त्राब्दी की अपरिवर्तनशीलता की प्रचलित धारणा पर प्रश्न कर सकते हैं। इस काल में, भूमि राजनीतिक और आर्थिक दोनों रूप में प्रमुख और महत्त्वपूर्ण संसाधन बन गई। भूमि अनुदानों ने नए धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष भू–संपत्ति युक्त मध्यवर्तियों और सामंतों को जन्म दिया। सभी शक्तियाँ भूमि की ओर आकर्षित थी और उसी भू–क्षेत्र के नए स्वामी बन गए। निजी जोत सामूहिक हो गई और राजसी तथा सामुदायिक भूमि निजी संपत्ति में परिवर्तित हो गई। किसान बहुत कम अपनी भूमि के स्वामी रह गए थे और लगभग श्रमिक काश्तकार ही बन गए थे। कृषक अनेक वैधानिक और गैर–वैधानिक कर को भूस्वामियों तथा राजाओं को अदा कर रहे थे, जिसमें विष्टी अथवा बंधुआ मजदूरी भी सम्मिलित थी। राज्य अपने राजस्व संसाधनों को सामंती भूस्वामियों के साथ साझा करते थे।

भूमि अनुदानों से नई भूमियों की उपलब्धता बढ़ी जो अन्यथा अप्रयुक्त थीं।

यह राज्य और किसानों दोनों के लिए लाभकारी था। राज्य को नए क्षेत्रों तक पहुंच और स्थानीय राजस्व आधार के द्वारा अधिक राजस्व मिलना आरंभ हो गया। राज्य अपने आधिपत्य का राज्य के हर कोने तक विस्तार करने लगे। राजा राजनीतिक और आर्थिक रूप से, अधिक शक्तिशाली हो गए। ऐसा राजसी अनुग्रह से लाभ प्राप्तकर्ताओं के निष्ठावान समूह के गठन से हुआ जिन्होंने अतिरिक्त सुविधाएँ जैसे सिंचाई के स्रोत उपलब्ध कराये। किसानों को खेती करने के लिए नई जमीनें भी मिली क्योंकि सामंती स्वामी, मंदिर और ब्राह्मण स्वयं कृषि कार्य नहीं करते थे। नई कृषि बस्तियों जैसे ब्रह्मदेय, अग्रहार, मंगलम, देवदानों और धर्मनिरपेक्ष अनुदानों ने किसानों को भूमि प्राप्त करके खेती करने के पर्याप्त अवसर प्रदान किए। इससे पूरे भारत में कृषि का विस्तार हो गया। कृषक एकमात्र उत्पादक बने रहे और प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि अर्थव्यवस्था की दिशा को नियंत्रित करते थे।

भारतीय सामन्तवाद के ऐतिहासिक योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रथम, भूमिदान के फलस्वरूप मध्य भारत, उड़ीसा और पूर्वी बंगाल में अकृष्टपूर्व भूमि (अपत– हपद संदक) को आवाद किया गया। दक्षिण भारत के बारे में भी यही कहा जा संकता है। कृषि का बड़ा विस्तार हुआ। आदिवासी क्षेत्रों में ब्राह्मणों को बड़ी–बड़ी जागीरें दी गईं। इन साहसिक ब्राह्मणों ने कृषि–विस्तार तथा आदिवासियों के जीवन स्तर को ऊँचा करने में बड़ा योगदान दिया। उन्होंने उन्हें गौ–हत्या को पाप–तुल्य बतलाया। गो–संरक्षण कृषि के लिए आवश्यक कहा गया। किसानों को हल–बैल, खाद, सिचाई की सुविधाएँ, मौसम विशेष व नक्षत्र में कृ षिकार्य करने आदि के बारे में बतलाया गया। कृषिज्ञान की बातें कृषि–प्रसार में संकलित की गईं। द्वितीय, जागीरदार अपनी–अपनी जागीर में शांति–व्यवस्था बनाए रखने तथा अन्य प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करने लगे। ब्राह्मण जागीरदार अपने अपने राजाओं का यशोगान करने लगे तथा उन्हें सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी बतलाया। गैर–ब्राह्मण जागीरदार अपने प्रभु की जागीर का प्रशासन करते तथा आवश्यकता पड़ने पर प्रभु की सैनिक सेवा करते थे। तृतीय, भूमिदान के फलस्वरूप अदिवा सयों का संस्कृतीकरण या ब्राह्मणीकरण हुआ। उन्हें लिपि, पंचांग, कला, साहित्य आदि से परिचित कराया गया। इस रूप में सामन्तवाद ने देश को सांस्कृ तिक एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। ब्राह्मणों के आदि स्थान मध्यदेश और तिरभुक्ति थे। उन्हें वहाँ से बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत आदि स्थानों में बुलाया गया और जागीर दी गई। अतः सांस्कृतिक आदान–प्रदान सम्भव हो सका। फलतः पूरे देश में एकसमान सामाजिक व्यवस्था कायम हुई। चतुर्य, सामन्तवाद ने राजनीतिक दृष्टिकोण से देश को खंडित कर दिया। देश की विशालता तथा अविकसित आवागमन के साधनों के फलस्वरूप स्थानीय सामंत स्थानीय राजे बन गए तथा उन्होंने अपने को केन्द्रीय सत्ता या अपने प्रभु से स्वतंत्र घोषित कर दिया। पंचम, सामंतवाद ने समाज में शोषक और शोषित वर्गों को जन्म दिया। शोषक वर्ग

में सामंत, जागीरदार था तथा शोषित वर्ग में किसान व अर्द्धकृषक । वर्ग–संघर्ष और विद्रोह की अग्नि प्रायः फूटती रहती थी। इससे सामाजिक परिवर्तन होता रहता था। तंग आकर शोषित किसान अकृष्टपूर्व क्षेत्र में चले जाते थे तथा नई बस्ती कायम कर लेते थे ।

प्राचीन भारत में उद्योग व व्यापार की स्थिति बहुत सुदृढ़ थी। भारत की अर्थव्यवस्था उस समय विश्व में सबसे अधिक मजबूत थी और वह पूरे विश्व में व्यापार का महत्वपूर्ण केंद्र था।

भारत उस समय संसाधनों से समृद्ध था। भारत आयात कम करता था और निर्यात अधिक करता था, क्योंकि भारत में निर्मित वस्तुएं उच्च गुणवत्ता की होती थीं जबकि विदेशों में निर्मित वस्तुएं गुणवत्ता की दृष्टि से बहुत अच्छी नहीं होती थीं। उस समय विश्व के अन्य देशों औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे जबकि भारत औद्योगिक दृष्टि से एक उन्नत देश था और संसाधनों से परिपूर्ण था।

भारत में निर्मित वस्तुओं की विदेशी बाजारों में बहुत मांग रही थी, जिसमें जरी के वस्त्र, तंबाकू, नील, शॉल, रेशमी वस्त्र, सूती वस्त्र, गरम मसाले आदि वस्तुयें थीं।

भारत में धातु उद्योग भी बहुत उन्नत अवस्था में था। सोने, चांदी, पीतल, तांबे के आभूषणों और वस्तुओं का उत्पादन बड़ी मात्रा में होता था।

वस्त्र उद्योग भी भारत में अपनी सुदृढ़ अवस्था में था और वस्त्रों के व्यापार के कई प्रमुख केंद्र थे। भारत के कई प्रसिद्ध बंदरगाह थे जहाँ से विदेशों को माल भेजा जाता था।

भारत से व्यापार दक्षिण पूर्वी एशिया में जावा सुमात्रा आदि देशों में होता था जबकि मध्य एशिया के कई देशों में भारत से व्यापार होता था। बाद में विदेशी आक्रांता ने भारत को पर हमले करने शुरू कर दिए और भारत को जमकर लूटा। विशेषकर अंग्रेजों ने तो भारत को एकदम खोखला कर दिया। इस कारण भारत उद्योग व व्यापार के क्षेत्र में पिछड़ गया।

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय सामंतवाद के उदय और विकास पर प्रकाश डालें।

    ....

2. प्राचीन भारतीय इतिहास में कृषि–भूमि के विकास पर टिप्पणी करिये।

    ....

3. भारत के इतिहास में व्यापार एवं वाण्ज्यि के क्रमिक विकास का वर्णन कीजिये।

....

15.7 संदर्भ ग्रन्थ

ओम प्रकाश प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास

घोषाल, यू0एन0 हिन्दू पब्लिक लाइफ भाग–1

मैटी, सचीन्द्र कुमार इकनोमिक लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया।

शर्मा रामशरण लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसायटी एंड इकोनमी।

दाण्डेकर, आर.एन. ए हिस्ट्री ऑफ द गुप्ताज, 1941

मजूमदार, बी0पी0 सोशियो इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।

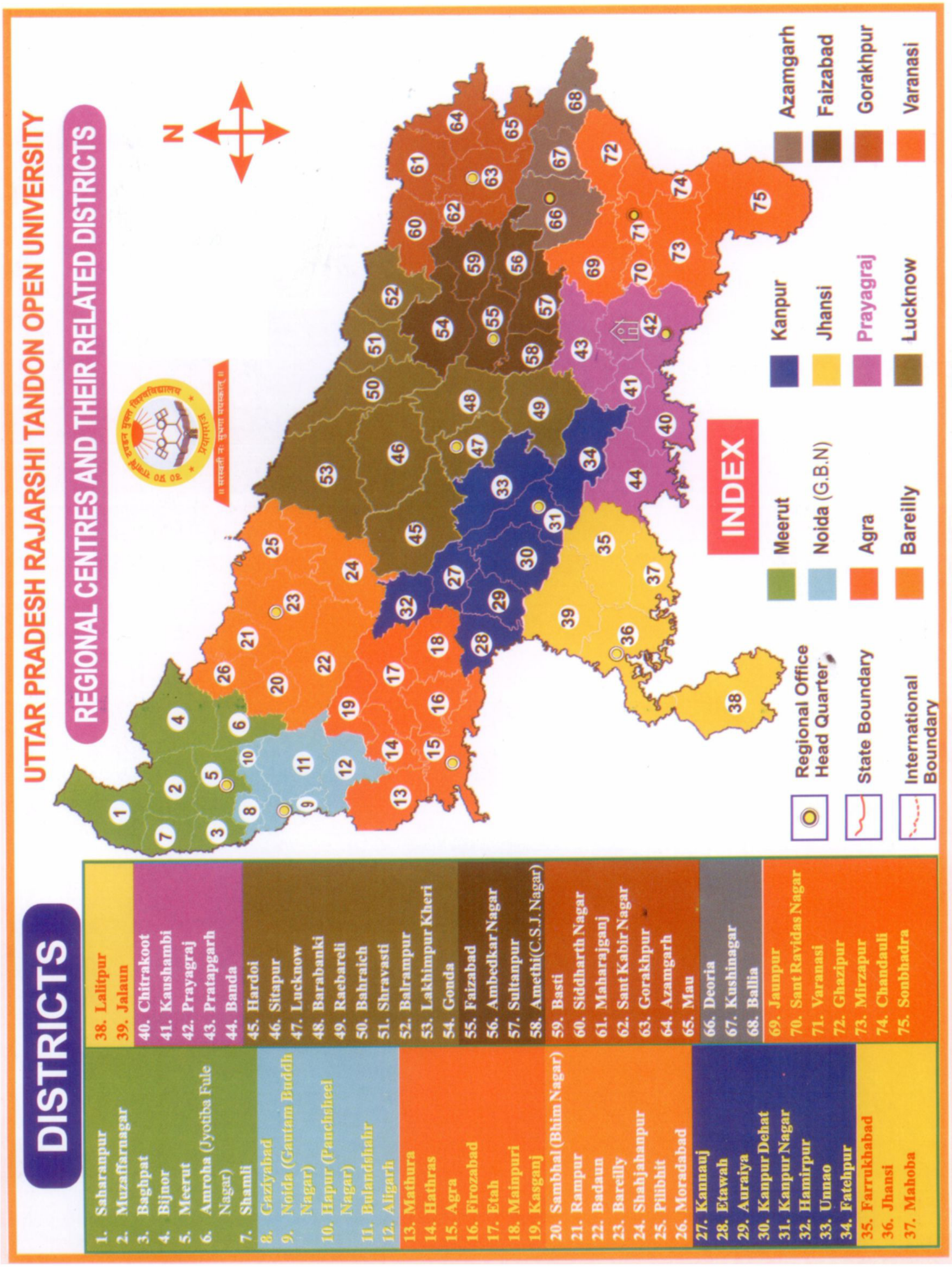

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज – 211013

"अपने भाइयों को मै सचेत करना चाहता हूँ कि मोम न बनें और आसानी से पिघल न जायें। छोटी-छोटी सी बातों के लिए ही हम अपनी भाषा को या संस्कृति को न बदलें।"

राजर्षि पुरूषोत्तमदास टंडन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

प्रयागराज

।। सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ।।

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर- 1800-120-111-333